गुरुत्तं

भाग-13

प्रवचनकार

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी
आचार्य श्री १०८ वसुनंदी जी मुनिराज

कृति : गुरुत्तं भाग-13

मंगलाशीष : श्वेतपिच्छाचार्य श्री 108 विद्यानंद जी मुनिराज

प्रवचनकार : आचार्य श्री 108 वसुनंदी जी मुनिराज

संपादन : आर्यिका वर्धस्वनंदनी

प्राप्ति स्थान : निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला, जम्बूस्वामी तपोस्थली बौलखेड़ा, कामॉ, भरतपुर (राजस्थान)

संस्करण : प्रथम सन् 2021

प्रतियाँ : 1000

मूल्य : स्वाध्याय

प्रकाशन : निर्ग्रन्थ ग्रंथमाला

मुद्रक : ईस्टर्न प्रेस
नारायणा, नई दिल्ली-110028
ई-मेलः info@easternpress.in

अनुक्रमणिका

1. तीव्र पापोदय 7
2. ''तीव्र पुण्योदय'' 17
3. ''आत्म हित के सूत्र'' 26
4. ''उन्नति के चार कदम'' 33
5. चिन्ता के कारण 41
6. ''सनातन शुद्धि'' 49
7. कैसे वचन बोलें 56
8. उपलब्धि की सार्थकता 64
9. धन्य कौन? 72
10. सुखद जीवन का राज 79
11. ''दुर्लभता'' 88
12. अनित्यानि शरीराणि 95
13. ''सारभूत वस्तु ग्रहणीय'' 104
14. आर्य पुरुष के लक्षण 112
15. आर्यों के व्यवहार सूत्र 121
16. ''जिसका जैसा स्वभाव वैसा प्रभाव'' 130
17. पहचानें समय की कीमत 138
18. श्रेष्ठ वक्ता–श्रोता 147
19. मूर्खों के चिह्न 156
20. महात्मा के लक्षण 167

पुरोवाक्

जिनाज्ञा स्वपरोत्तारा, भक्तिर्वात्सल्यवर्द्धिनी।
तीर्थप्रवर्तिका साधोर्ज्ञानतः परदेशना ।।12।। म.क.

स्वाध्याय के द्वारा जिनाज्ञा का पालन, स्वपर उद्धार, भक्ति, वात्सल्य वृद्धि, तीर्थ प्रवर्तन, उपदेश इतने गुण प्राप्त होते हैं।

कैवल्यमेव मुक्त्यंगं, स्वानुभूत्यैव तद् भवेत्।
सा च श्रुतैक संस्कारः, मनसाऽतः श्रुतं भजेत्।।अ.धर्मा. 2/3।।

केवलज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् कारण है और केवलज्ञान स्वानुभूति से होता है तथा वह स्वानुभूति श्रुतज्ञान की उत्कृष्ट भावना में लीन मन से होती है, इसलिए श्रुत की भावना करनी चाहिए।

मोक्षपथरूपी राजमार्ग पर गमन करने के लिए स्वाध्याय एक समीचीन वाहन के समान है, जिस पर सवार होकर जीव निराबाध रूप से शिवपथ पर गतिमान हो सकता है। स्वस्थ अर्थात् आत्मस्थ होने के लिए स्वाध्याय ही श्रेष्ठ साधन है। जिस प्रकार माँ के हितकारी वचन संतान को पतित नहीं होने देते उसी प्रकार जिनवाणी के शब्द इस जीव को संसार में पतित नहीं होने देते। संसार में यदि माँ को रक्षक माना जाता है तो परमार्थ में जिनवाणी माँ ही श्रेष्ठ रक्षिका है। उनकी छत्रछाया में, आश्रय में रहने वाला जीव भवधूप से संतप्त होने से बच जाता है। भव दुःख के कारणों से बचता हुए गुणों को वृद्धिंगत करता हुए निज पद, निज स्थान, स्वस्वरूप पाने में समर्थ होता है।

शब्दों का आश्रय लेकर ही भावों का आदान–प्रदान संभव है। राग या वैराग्य इन्हें उत्पन्न करने की सामर्थ्य भी शब्द रखते हैं और शब्दाश्रित ही श्रुतज्ञान है। इसी शास्त्र के पठन, श्रुतज्ञान के आराधन से जीव हेयोपादेय में भेद करने में समर्थ होता है। जीव को परमविवेकी, समताभावी बनाने में श्रुतज्ञान ही कारण है। अरिहंत

परमेष्ठी की वाणी आज साक्षात् तो कर्णगोचर नहीं हो सकती किन्तु आचार्य परमेष्ठी के द्वारा उस अमृतवाणी का पान कर्णांजलि से करने में समर्थ हैं। यह वर्तमान में भव्य जीवों का पुण्य है।

जिस प्रकार पंचमकाल के सम्यग्दृष्टि आसन्न भव्य जीव चतुर्थकालीन तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि की कल्पना मात्र कर पाते हैं उसके श्रवणार्थ चातक पक्षी के समान संतप्त होते हैं उसी प्रकार कई सम्यग्दृष्टि जीव आज भी आचार्यों की वाणी के साक्षात् श्रवण हेतु अत्यंत तृषित हैं। वे जीव अत्यंत सौभाग्यशाली हैं जो तीर्थकरों के वचनों को आचार्य परमेष्ठी के द्वारा श्रवण करने में समर्थ हैं।

जिनागम के गूढ़ रहस्यों को अत्यंत सरल–सहज विधि से आचार्य श्री जन–जन तक पहुँचाते हैं व अपनी मीठी प्रवचन शैली से धर्म के मर्म को उस माँ के समान भव्यों के हृदयस्थ कराते हैं जो माँ औषधि को बताशे में रखकर शिशु के उदरस्थ कराती है। माँ के द्वारा दी गई वह औषधि शिशु को देह के लिए ही हितकारी व कल्याणकारी होती है किन्तु गुरू के द्वारा प्रदत्त ये जिनवचन रूप महौषधि सांसारिक कर्मबद्ध आत्मा से अनुस्यूत जन्म–जरा–मृत्यु रूपी रोग को दूर करने में समर्थ होती है।

यह जीवन पुण्य व पाप की ऊर्मियों पर हिलोरे लेता हुए दृष्टिगोचर होता है। जीव पुण्य–पाप के फल को भोगता हुए अनंतकाल संसार में व्यतीत कर देता है। पुण्य सुख व पाप दुःख का हेतु है। समीचीन रूप से पुण्य–पाप की व्याख्याओं का बोधक कदाचित् चिरकालीन भव परिभ्रमण में समर्थ न हो सकेगा अतः संभवतः आचार्य गुरूवर ने सर्वप्रथम पुण्य–पाप पर व्याख्यान किया। प्रस्तुत कृति में उन्नति के चार सूत्र, चिन्ता के कारण, पहचानें समय की कीमत, कैसे वचन बोले इत्यादि समसामयिक शीर्षकों पर उपदेश देकर सभी के साथ युवा पीढ़ी पर विशेष उपकार किया है। क्योंकि ऐसे व्याख्यान निःसंदेह जीवन को

सुपरिवर्तित व सुपरिमार्जित करने में उपकारक सिद्ध होते हैं। तथा सम्यग्ज्ञान, आत्महित के सूत्र, धन्य कौन आदि शीर्षकों पर उपदेश दे आत्मकल्याण हेतु प्रेरित कर मोक्षमार्ग पर अग्रसर भी किया है।

प्रस्तुति कृति **गुरुतं भाग–13** परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य गुरूवर श्री वसुनंदी जी मुनिराज के मीठे प्रवचनों का संकलन है। गुरूवर की साक्षात् अमृतवाणी के श्रवण से वंचित रहने वाले भव्यजनों तक गुरू की यह कल्याणकारी वाणी पहुँच सके, इस हेतु यहाँ प्रवचनों का संकलन किया गया है। हमारे द्वारा प्रमादवश, अल्पज्ञतावश इस संपादन के कार्य में यत्किंचित् भी त्रुटि रह गई हो तो सुधी पाठक नीर–क्षीर विवेकी हंसवत् गुणग्राहक दृष्टि बनाकर क्षीर रूपी गुणों का अवग्रहण करें और सारहीन नीर का परित्याग। संभव है आपका आनंद, संतोष, हितमार्ग संप्राप्ति एवं कल्याण हमारे परिणामों में विशुद्धि एवं आनंद का निमित्त बन सके।

पुस्तक की पांडुलिपि तैयार करने में आर्यिका श्री यशोनंदनी माता जी का श्रम श्लाघनीय है। पुस्तक के मुद्रण, प्रकाशन में सहयोगी सभी धर्मस्नेही बंधुओं को पूज्य गुरूवर श्री का मंगलमय शुभाशीष।

गुरूवर श्री का संयम पथ सदैव आलोकित रहे। शताधिक वर्षों तक यह वसुधा गुरुवर श्री के तप, ज्ञान, साधना से सुरभित रहे। परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, अक्षर शिल्पी आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी जी मुनिराज के चरणों में सिद्ध–श्रुत–आचार्य भक्ति सहित कोटिशः नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु.....।

''जैनम् जयतु शासनं''

श्री शुभमिति माघशुक्ल दशमी
श्री वीर निर्वाण संवत् 2547
सोमवार–22/2/2021
श्री जम्बूस्वामी तपो. बौलखेड़ा, कामा, भरतपुर(राज.)

–आर्यिका वर्धस्वनंदिनी

तीव्र पापोदय

महानुभाव! जीवन में पुण्य और पाप का उदय ऐसे चलता है जैसे जीवन में कभी धूप आ जाये कभी छांव, कभी धूप ही धूप आती रहती है तो कभी छांव ही छांव, किन्तु दोनों आते जरूर हैं। कभी प्रकाश होता है तो कभी अंधकार, जीवन में कभी अनुकूलताओं का समागम होता है तो कभी प्रतिकूलतायें ही प्रतिकूलतायें आती रहती हैं। ऐसा नहीं होता कि समग्र जीवन अनुकूलताओं से युक्त हो और ऐसा भी नहीं होता कि समग्र जीवन प्रतिकूलताओं से ही युक्त हो। इस मानव जीवन में कभी अनुकूलतायें ही अनुकूलतायें दिखाई देती हैं तो कभी प्रतिकूलता भी दिखाई देती है।

जब जीवन में तीव्र पापकर्म का उदय होता है, उस समय वर्तमान का पुरुषार्थ अपना फल देने में समर्थ नहीं होता, पाप का प्रभाव होने से सत्ता में रखी हुयी प्रकृतियाँ पाप का फल देने में समर्थ होती हैं। व्यक्ति उस समय यदि पुण्य कार्य करने का पुरुषार्थ भी करता है तो उसका वह पुरुषार्थ भी मंद हो जाता है। आज का किया पुरुषार्थ जब आज ही फल देने में समर्थ नहीं हो पाता है तब व्यक्ति पाप का फल भोगने के लिये मजबूर हो जाता है। अंधकार में छाया, बुढ़ापे में काया और अन्त समय में माया किसी का साथ नहीं देती। चाहे व्यक्ति कितना ही बड़ा हो, अपने आप को श्रेष्ठ माने किन्तु उसकी छाया अंधकार में लुप्त हो ही जाती है। चाहे छाया बालक की हो या किसी प्रौढ़ वा वृद्ध की, कोई भी जब–जब अंधकार में जाता है तो छाया लुप्त हो ही जाती है। वृद्ध अवस्था में काया अपना कार्य करने में असमर्थ हो जाती है, मन में विचार तो बहुत आते हैं कि ऐसा करूँ–वैसा करूँ, जो जोश और सामर्थ्य किशोर अवस्था में, प्रौढ़ व युवा अवस्था में थी आज उस सामर्थ्य में स्वयं का बल घट

गया, इसीलिये वृद्धावस्था में व्यक्ति ज्यादा पराधीन हो जाता है युवा, प्रौढ़ या किशोरावस्था में तो जो मन में आया वह करने के लिये त्तपर होता है और कर दिखाता है।

वृद्धअवस्था थका हुआ, हारा हुआ खिलाड़ी है जिसने भले ही पहले अनेक युद्ध या खेल में विजय प्राप्त की पर अब वह हारा हुआ है, थक चुका है। अब वह नही कह सकता कि मैं ऐसा कर सकता हूँ। वृद्धअवस्था में जिसके पास पर्याप्त धन हो, मृत्यु सामने खड़ी हो उस समय भी धन साथ नहीं देता, उस समय परलोक में उसके साथ धन नहीं जाता, वह धन मिट्टी की तरह रखा रह जाता है। जब तीव्र पाप कर्म का उदय आता है तब अपने भी साथ छोड़ जाते हैं। कहा भी है–

बान्धव मध्येऽपि जनो, दुःखानि समेति पापपाकेन
पुण्येन वैरिसदनं यातोऽपि न मुच्यते सौख्यैः।।

पाप के उदय से मनुष्य बंधुजनों के बीच में भी दुःखों को प्राप्त होता है और पुण्य से शुत्र के घर गया हुआ भी सुखों से मुक्त नहीं अर्थात् वहीं सुख प्राप्त करता है।

जब तीव्र पाप कर्म का उदय आता है तब शरीर अपना साथ नहीं देता है, जब तीव्र पाप कर्म का उदय आता है तब अनुकूल वस्तु भी प्रतिकूल प्रतिभासित होती है, जब तीव्र पाप कर्म का उदय आता है तब ऐसा लगता है कि वरदान भी हमारे लिये अभिशाप की तरह दुखद बन रहा हो।

महानुभाव! मृष्टदाना और उसका पुत्र अकृतपुण्य पूर्व पाप कर्म के उदय से जिस दरिद्रता का अनुभव कर रहे थे वह दरिद्रता शब्दातीत थी, केवल अनुभवगम्य थी। व्यक्ति का जब पाप कर्म का उदय आता है उससे उसे क्या–क्या प्रतिकूलता होती है उस प्रतिकूलता को कोई कवि लिखना चाहे तो वह शब्दों

में उसे लिख नहीं पाता। लिखने की लाख कोशिश करे पर पाप के उदय में जो दुःख की अनुभूति होती है वह लेखनी से लिखी नहीं जा सकती। अकृतपुण्य जिसने पूर्वभव में धर्म द्रव्य का (जिन पूजा के द्रव्य का) भक्षण किया था, वह उस पाप के माध्यम से नरकादि दुर्गतियों को प्राप्त हुआ, शेष बचे पाप से मिष्टदाना का पुत्र हुआ, जन्म के समय ही उसके पिता की मृत्यु हो गयी, परिवार वाले भी उसे छोड़ गये, धन आदि सब नष्ट हो गया। मिष्टदान अपने पुत्र का उदर पूर्ण करने में असमर्थ हो गयी, वह छोटा बालक अपने ही नौकर (सुकृतपुण्य) के यहाँ नौकरी करने के लिये गया, उस सुकृतपुण्य ने यह सोचा कि यह मेरे मालिक का बेटा है, इसके जीवन में आज पाप कर्म का उदय आ गया, इसीलिये मैं इसे सबसे ज्यादा अनाज दूँगा, जिससे यह निराकुलता से अपना जीवन जी सके।

ऐसा सोचकर उसने अन्य सभी कार्य करने वालों को तो अनाज दिया, और अकृतपुण्य को स्वर्ण मोहरें दीं, किन्तु पाप कर्म के उदय से वे स्वर्ण की मोहरें अंगारे बन गयीं सोने की चेन दी वह मिट्टी की रस्सी बन गई उसे और कुछ देना भी चाहा किन्तु यह सोचकर कि इसका तीव्र पाप कर्म का उदय चल रहा है इसीलिये मैं जो कुछ भी दूँगा उसका यह लाभ न ले सकेगा, उसने वर्तमान की आवश्यकता को देखकर के अपने खेत से अनाज दे दिया, वह अकृतपुण्य अपने उत्तरी वस्त्र में अनाज को बांधकर घर ले जा रहा था, उस उत्तरीय वस्त्र में छिद्र होने से, घर पहुँचते–पहुँचते सारे चने उसमें से निकल गये, मुट्ठीभर चने बचे। माँ ने पूछा–बेटा, किसके यहाँ काम करने गये थे? तो पता चला कि वह उसके यहाँ नौकरी करने गया था जो पहले हमारे यहाँ नौकरी करता था। माँ बोली क्या लाया वहाँ से, तो वह कहने लगा, माँ! वह तो पहले मुझे अंगारे दे रहा था, फिर मिट्टी

की रस्सी दी किन्तु मैंने नहीं ली मैं तो अनाज लेकर आया हूँ। उन्होंने मुझे बहुत सारा अनाज दिया है। ज्यों ही पोटली खोलकर देखी मुट्ठीभर अनाज निकला, पूरा अनाज रास्ते में आते–आते फैल गया।

पाप का उदय ऐसा ही होता है, जब हमारे पाप का उदय होता है तो हमारे पुण्य के कलश में छेद हो जाता है, उस पुण्य की वस्तु का हम भोग नहीं कर पाते, वह वस्तु देखते–देखते नष्ट हो जाती है। मिष्टदाना ने कहा–इस नगर में रहकर तो मेरी प्रतिष्ठा ही नष्ट हो जायेगी, पूर्व में मैं यहाँ के जमींदार की पत्नी कहलाती थी, आज मैं सबसे निर्धन हूँ। मुझे इस गाँव को छोड देना चाहिये, और उसी समय वह गाँव छोड़कर चली गयी। वह किसी कुटुम्बी नाम के ग्राम में पहुँची, वहाँ के बलभद्र नामक जमींदार के घर के बाहर आंगन में ही रुकी, प्रातः होने पर जमींदार ने पूछा कहाँ पर जा रही हो बहिन? वह बोली जहाँ पहुँच जाऊँ वहाँ। क्या करना चाहती हो? जो काम मिल जाए। उस बलभद्र नाम के जमींदार के सात पुत्र जो माँ विहीन थे वह मिष्टदाना उनके पोषण हेतु कार्यरत हो गयी। वह वहीं भोजन बनाने का कार्य करती। वह उन सात पुत्रों के लिए खीर पकाती तो उसे बड़ा दुःख होता कि अपने पुत्र को खीर नहीं खिला सकती, अगर पुत्र खीर मांगे तो उसे पीटती कि हमारे इतने पुण्य नहीं कि मैं तुझे खीर खिला सकूँ।

एक दिन जब अकृतपुण्य रो रहा था तो बलभद्र घर पर आया, पूछा ये क्यों रो रहा है तो माँ ने बताया कि खीर खाने की जिद कर रहा है। बलभद्र ने कहा–बनाकर खिला दो, इसमें क्या बात है। तब मिष्टदाना ने प्रातः अपने पुत्र के लिये खीर बनायी, उसने सोचा आज बहुत वर्षों बाद मैं अपने पुत्र को कोई पकवान खिला रही हूँ, पहले तो हमारे यहाँ नाना व्यंजन बनते थे, मैं सभी

को वे खिलाती थी, आज खीर बहुत दिनों बाद बनायी, आज यदि मेरे यहाँ कोई मुनिमहाराज आ जायें तो उन्हें आहार देकर ही खीर खायें। वह जल लेने के लिये कुयें पर जाते समय अपने पुत्र से कह गयी कि यदि कोई मुनिराज आए तो उन्हें रोक लेना। तभी पुण्य योग से एक मुनिराज आकाशमार्ग से आये, अकृतपुण्य ने कहा महाराज ठहर जाओ मेरी माँ कहकर के गयी है कि आप खीर खायेंगे, और आप यदि बिना खीर खाये चले गये तो मेरी माँ मुझे खीर नहीं देगी, किन्तु महाराज चले जा रहे थे। उस बालक ने सोचा कि मैं क्या करुँ, उसने अपनी बाल बुद्धि से उनके दोनों पैरों को पकड़ लिया। तब तक माँ आ जाती है और विधिपूर्वक उनका पड़गाहन करती है।

नवधाभक्ति पूर्वक आहार प्रारंभ हुआ, माँ आहार देती है, उस खीर के तीन हिस्से करती है, एक हिस्सा मुनिराज के लिये, दूसरा हिस्सा बेटे के लिये, तीसरा हिस्सा अपने लिये। जैसे ही आहार दिया तो माँ ने मुनिराज के हिस्से की खीर दे दी, पुनः अपने हिस्से की खीर भी दे दी, माँ तीसरा हिस्सा उठा भी न पायी, अकृतपुण्य बाहर से ही कहने लगा माँ–माँ मेरे हिस्से की खीर भी दे दो, और दो, वह अकृतपुण्य अत्यंत प्रसन्न हुआ। मुनिराज आहार करके चले गये। किंतु वह खीर अक्षय बन गयी, क्योंकि वे महाराज अक्षीणमहानस ऋद्धि के धारक थे, ऐसे मुनिराज कहीं आहार कर लें तो उस रसोई का भोजन इतना बढ़ जाता है कि उस दिन चक्रवर्ती की पूरी सेना भी भोजन कर ले तब भी भोजन समाप्त नही होता। उस समय से वह अकृतपुण्य सुख–शांति का अनुभव करने लगा।

महानुभाव! जब तक तीव्रपाप होता है तब तक जीवन में सफलता हाथ नहीं आती है। आप लोग कई बार कहते हैं हमने कई कार्य करके देख लिये पर सफलता नहीं मिली, जो भी व्यापार

करता हूँ उसमें घाटा लग जाता है। जब तक पाप कर्म का उदय होता है तब तक यथेच्छ लाभ नहीं होता। आ.भगवन् गुणभद्र स्वामी जी ने 'आत्मानुशासन ग्रंथ में कहा–''यदि पूर्व में प्राप्त किया हुआ पुण्य है तो आयु, लक्ष्मी और शरीर आदि भी यथेच्छित प्राप्त हो सकते हैं, यदि पुण्य नहीं है तो स्वयं को क्लेशित करने पर भी वह सब कुछ बिल्कुल भी प्राप्त नहीं हो सकता।

इसलिये कर्म को बदलने के लिये पहले पुरुषार्थ को बदलना है, मानसिकता बदलना है, मानसिकता बदलने से कर्म की स्थिति बदलने लगती है। अपनी विचारधारा बदलनी है, अपनी चर्या बदलनी है जो प्रवृत्ति अभी पापमय है उसे पुण्यमय करना है। जैसे ही पुण्य में प्रवृत्ति होती है पाप कमजोर पड़ने लगता है। तीव्र पाप कर्म के उदय में पुरुषार्थ वैसे ही कार्यकारी नहीं होता है जैसे किसी जंगल में भयानक आग लगी हो और कोई व्यक्ति बाल्टीभर पानी लेकर उस आग को बुझाने का प्रयास करे या कोई पक्षी चोंच में पानी लेकर बुझाने का प्रयास करे, वह सफल नहीं होता, इसी प्रकार तीव्र पाप कर्म के उदय में व्यक्ति के पुरुषार्थ बोने पड़ जाते हैं।

एक जयपुर का राजा जिसके पास एक कन्या थी, वह कन्या उसके पुत्र से ज्यादा बढ़कर थी। उस राजा ने सोचा मैं अपनी लाडली का विवाह बड़ी उदारता व उत्साह के साथ करूँगा, ऐसा विवाह करूँगा कि इतिहास इस कार्यक्रम को यावज्जीवन याद रखे, क्या कार्य करूँ? दहेज में लोग करोड़ों का धन देते हैं, कोई राज्य धन सम्पदा देते हैं किन्तु मैं एक ऐसी चीज दूँगा जो आज तक किसी ने दी ही नहीं हो। राजा ने सोचा मैं राजकुमारी के विवाह में काबुल के 500 घोड़े देना चाहता हूँ, बहुत ऊँचे धवल घोड़े हों जैसे स्वर्ग से ही उतर के आये हों, ऐसी बात उसके मन में आयी। उसने अपने व्यक्ति को काबुल भेजा और कहा उत्तम

से उत्तम घोड़े लेकर आओ, घोड़े आ गये, और राजा ने बतौर दहेज में घोड़े दिये।

घोड़ों का व्यापारी भी विवाह में आया, राजा ने उसे उन घोड़ों का मूल्य माँगने को कहा, व्यापारी ने कहा राजन्? मुझे अभी आवश्यकता नहीं है, मुझे अन्य काम से जाना है जब भारत से लौटता हुआ अपने देश जाऊँगा तब मूल्य ले लूँगा। वह व्यापारी अपने कार्य से आस–पास के अन्य देशों में चला गया, और उधर से ही काबुल चला गया, लौटकर भारत नहीं आया। वहाँ पहुँचा तो उसके जीवन में पापकर्म का उदय आया, और उसकी सम्पत्ति नष्ट होने लगी, जो पैसा आने वाला था वह भी नहीं आया साथ ही जन–धन की भी हानि हुयी उसका परिवार बिखर गया, उसके घोड़े भी मृत्यु को प्राप्त हो गये, वह व्यापारी गरीब और कंगाल जैसा हो गया। महानुभाव! पाप के उदय में व्यक्ति की दशा दयनीय होती है आचार्यों ने कहा भी है–

तप्ताश्चंडरुचेः करैरतिखरैर्ग्रीष्मस्य मध्य दिने,
कष्टं कर्दममर्दिनो धनजलैर्वर्षासु भिन्नांगकाः।
शीतार्तानिशि दंतवीणनमिव प्राप्ता हिमर्तौ परे,
पापात् संकुचिताः श्ववत् कथमहो तिष्ठंति भूशायिनः।।

पापी मनुष्य ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्न में सूर्य की प्रचंड किरणों से संतप्त होते हैं। वर्षा ऋतु में कष्टपूर्वक कीचड़ को पार करते हुए मेघों के जल से पीड़ित होते हैं और शीत ऋतु की रात्रि में दाँतो की वीणा को बजाते हुए कष्ट भोगते हैं तथा संकुचित शरीर होकर श्वान के समान पृथ्वी पर पड़े रहते हैं।

महानुभाव! तब उस व्यापारी ने सोचा, चलो कोई बात नहीं यहाँ के व्यक्तियों से मेरा धन नहीं आ रहा है, तो कम से कम जयपुर के राजा से मुझे धन प्राप्त हो जायेगा।

वह व्यापारी उसी दयनीय अवस्था में जैसे–तैसे भूखा–प्यासा यात्रा करता हुआ राजा तक आया और अपनी व्यथा सुना कर बोला–मेरे घोड़े जो आपने खरीदे थे मैं उसका मूल्य लेने आया हूँ। राजा ने उसकी बात सुनकर कहा–कौन से घोड़े? कैसे घोड़े? कब लिये? किसने दिये? किसने लिये? क्या तुम पागल हो गये हो जो धन माँगने के लिये आये हो। व्यापारी को लगा पाप ने मुझे यहाँ भी नहीं छोड़ा, काबुल में तो मुझे मेरा धन नहीं मिला पर जयपुर के महाराज भी मुझसे ऐसी बात कर रहे हैं। वह थोड़ा सा उदास होकर के दो मिनट के लिये वहाँ खड़ा रहा, राजा ने कहा–कोई बात नहीं, मैं समझता हूँ तुम बहुत दुःखी हो और मैं तुम्हारी सहायता करना चाहता हूँ, तुम मेरे यहाँ पर ही रहो तुम्हें पेट भर भोजन मिलेगा, किन्तु कार्य ये है कि तुम्हें मेरी गायें एवं भेड़–बकरियां चरानी होंगी, जब अनुकूलता होगी तब मैं तुम्हें यहाँ से जाने की अनुमति दूँगा। व्यापारी ने कहा–ठीक है, सोचता है मैं जाऊँ भी तो कहाँ जाऊँ, बस मुझे तो अब मृत्यु ही समीप दिखाई देती है ये कष्ट सहन नहीं होता, वह राजा की आज्ञा मानकर वहीं रह गया।

वह गाय चराने के लिये ले गया। शाम तक लौटा, दो गाये मर गयीं, दूसरे दिन एक गाय मर गयी। राजा ने कहा–तुम गाये नहीं, बकरी चराने ले जाना, वह बकरी लेकर गया तो कभी दो बकरी मर जाती, कभी भेड़ मर जाती। कोई भी दिन ऐसा नहीं जाता कि एक–दो बकरी या भेड़ कम न हों। राजा ने फिर भी उसे कुछ नहीं कहा वर्ष भर बाद बकरी की मृत्यु होना बंद हो गयी। अन्य बकरियों ने बच्चों को जन्म दिया तो संख्या में वृद्धि हुयी। राजा को समाचार ज्ञात हुआ तो राजा ने कहा ठीक है, अब इसे गाय भी चराने के लिए दे दो, गायें दी तो दिन–प्रतिदिन गायों की संख्या भी बढ़ी, राजा ने कहा–अब तुम

भेड़–बकरी–गाय नहीं चराओगे, घोड़ों को चराओगे। घोड़ों को दिया तो घोड़ों की भी वृद्धि होने लगी। राजा ने देखा अब सब ठीक है, उसे बुलाया और कहा, अब तुम जा सकते हो, तुम्हारी सेवा पूर्ण हुयी किन्तु हाँ, यहाँ आओ, मैंने अपनी बेटी की शादी के लिये 500 काबुल के घोड़े खरीदे थे, उन पाँच सौ घोड़ों का मूल्य भी लेते जाओ और अपने नगर लौट जाओ।

वह व्यापारी बोला, महाराज! मेरी समझ में यह बात नहीं आयी कि जिस समय जब मैं विषम परिस्थिति में था उस समय आपने कह दिया कैसे घोड़े, कहाँ के घोड़े, कब लिये? आपने स्पष्ट मना कर दिया था आपकी सेवा करने के लिये मुझे मजबूर होना पड़ा और आज आप उन घोड़ों का मुझे मूल्य देना चाहते हैं। ऐसा क्यों महाराज?

राजा ने कहा ऐसा इसलिये हुआ कि उस समय तेरे पाप कर्म का उदय था, मैं उस समय तुझे धन दे देता तो वह धन मार्ग में नष्ट हो जाता, कोई छीन लेता, अतः मैंने धन नहीं दिया। मैं देखना चाहता था कि तेरे पाप कर्म का उदय कब तक चलेगा। मेरी गायें मृत्यु को प्राप्त हुयीं, मेरी भेड़–बकरी मृत्यु को प्राप्त हुयीं, तब तक मैं जानता रहा कि तेरे पाप कर्म का उदय चल रहा है, जब मेरी भेड़–बकरी–गायों की वृद्धि हुयी तब मैं समझ गया कि अब तेरे पुण्य का उदय आ गया, तेरे चेहरे पर चमक आ गयी, तू आनंद का अनुभव करने लगा। अब तू अपने देश लौटकर के जा सकता है, तुझे अपना मकान–व्यापार सब मिल जायेगा।

महानुभाव! पाप कर्म का उदय जब होता है तब कुछ व्यक्ति तो पुरुषार्थ करना छोड़ देते हैं किन्तु पापोदय में भी पुरुषार्थ करना छोड़ना नहीं चाहिये। जो व्यक्ति पुरुषार्थ करना छोड़ देते हैं वे सुदीर्घकाल के लिये पाप कर्म को भोगने के लिये मजबूर

होते हैं। अतः पाप कर्म का उदय आये तब भी हम अपने कर्तव्य को न छोड़ें, पुण्य कर्म का उदय आये तब भी हम अपने कर्तव्य को न छोड़ें। कई बार ऐसा देखा जाता है कि पापोदय में अनुकूल सामग्री भी प्रतिकूल हो जाती है और पुण्योदय में प्रतिकूल सामग्री भी अनुकूल हो जाती है इसलिये तीव्र पापकर्म के उदय में भी घबराना नहीं है, अपना विवेक खोना नहीं है, अपने कर्तव्य से च्युत नहीं होना है, अपनी मान–मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना है। पाप भी मेहमान की तरह से आया है, आज आया है कल चला जायेगा, पुण्य भी किसी का शाश्वत नहीं रहता। इसीलिये पाप के उदय में किसी भी प्राणी को अधीर नहीं होना चाहिये सदैव पुण्य कार्य में संलग्न रहें, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ––''

।।श्री शांतिनाथ भगवान् की जय।।

।।जैनं जयतु शासनं–विश्वकल्याणकारकं।।

''तीव्र पुण्योदय''

महानुभाव! कर्म एक ऐसा शाश्वत सत्य है जिसकी सत्ता को नकारा नहीं जा सकता, और न ही उसके प्रभाव को। कर्म के पास न कोई कागज है न कोई किताब, फिर भी उसके पास रहता है प्रत्येक जीव का हिसाब' कोई सोचे कर्म में गड़बड़ी हो जाये, कोई सोचे मैं पुण्य का कार्य करके कहीं पुण्य के फल से वंचित न रह जाऊँ, कोई मेरे पुण्य को छीन न ले। कोई सोचे मैं पाप करके पाप से बच जाऊँ तो यहाँ पर कर्म के हिसाब किताब को कोई Disturb नहीं कर सकता, वह यथार्थ है ज्यों की त्यों रहेगा। उसे कोई अन्यथा करना भी चाहे तो कर नहीं सकता।

जब तक किसी व्यक्ति के जीवन में सातिशय पुण्य का उदय होता है तब तक वह व्यक्ति पुण्योदय में जो कुछ भी करता है उस पुण्य की ऐसी तीव्रता होती है कि उसे पाप का फल मिलता नहीं है और यही एक दिक्कत हो जाती है व्यक्ति के सामने कि व्यक्ति इसी दृश्य को देखकर अपने श्रद्धान को कई बार कमजोर बना लेता है और कई बार श्रद्धान् टूट भी जाता है। जब वह देखता है कि यह व्यक्ति आज पुण्य के उदय में पुण्य का फल भोग रहा है और कार्य पाप के कर रहा है, तब वह उदाहरण देता है कि यह पाप करके भी सुखी है, दूसरी और मैं जो पुण्यकार्य में संलग्न हूँ फिर भी दुखी हूँ। यदि कोई जीव वर्तमान में पाप करते हुये भी सुखी दिखाई दे रहा है तो समझो उसका पूर्व का कोई तीव्र पुण्य उदय में चल रहा है। जब तीव्रता से पुण्य उदय में आता है तब पाप साइड में हो जाता है। यदि सड़क पर कोई वाहन Speed में आ रहा हो तो व्यक्ति अपने आप साइड में हो जायेगा, भैया पहले इसको निकलने दो, जब मंद गति से कोई व्यक्ति चल रहा हो और सामने भीड़ हो तो

मंदगति वाले को रुकना पड़ता है, तीव्रगति से आने वाला व्यक्ति तीव्रता से निकल जाता है, तीव्रता से आने वाले व्यक्ति या वाहन में सामर्थ्य ज्यादा है, मंद गति से चल रहा है तो सामर्थ्य कम है। ऐसे ही जब तीव्र पुण्य का उदय होता है तो पाप नम्रीभूत हो जाता है और पुण्य उदय में आता रहता है।

ऐसा कई बार जीवन में देखा जाता है, जब स्वयं के पुण्य का उदय आता है तब व्यक्ति मदहोश हो जाता है, वह सोचने लग जाता है कि अब मेरे जीवन में कभी पाप का उदय आयेगा ही नहीं। जो पुण्य के उदय में पाप कार्य कर रहा है और उसे पाप का फल नहीं मिल रहा, तो वह ऐसा नहीं सोचे कि पाप का फल मिलेगा ही नहीं, मिलेगा, अवश्य मिलेगा किंतु समय पर मिलेगा।

जैसे किसी व्यक्ति के पास हजार फीट लंबा कोई पाइप है, उस पाइप में उसने पहले दूध भर दिया तो दूसरे छोर में से दूध निकल रहा है अब बाद में वह उस पाइप में खारा गंदा पानी भर रहा है तो जिस समय भर रहा है उस समय निकल नहीं रहा और जो निकल रहा है वह आज का अभी का नहीं निकल रहा, पहले का भरा निकल रहा है। ऐसे ही हमने पूर्व में जो पुण्य किया था वह अपना फल आज दे रहा है तो आज यदि पाप करेंगे उस आत्मा के साथ कर्मों के बंध रुपी पाइप में कुछ भरेंगे तो वह आगे निकलेगा, किन्तु तीव्र पुण्य के उदय में वह आभास नहीं होता। जब तीव्र पुण्य का उदय आता है तो व्यक्ति प्रायःकर भूल जाता है कि मैं क्या कर रहा हूँ किन्तु सभी व्यक्ति नहीं भूलते। कुछ व्यक्ति तीव्र पुण्य के उदय में भी इतने जागरुक होते हैं उन्हें डर लगता है कि पुनः जीवन में पाप का उदय न आ जाये।

जिस जीव ने पहले पाप का फल भोग लिया है, जो व्यक्ति ठोकर खाकर के संभल गया है वह प्रायःकर संभला हुआ रहता है फिर से ठोकर न लग जाये, जिसे ठोकर नहीं लगी तो संभव

है उसे लग सकती है, क्योंकि वह उछल कूद के चल रहा है। जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में पाप का फल भोग लिया हो, प्रतिकूलता देख ली हो, दरिद्रता देखी हो, हीन भावना जिसके अंदर जागी हो, जिसकी निंदा हुयी, अपयश को जिसने प्राप्त किया वह व्यक्ति बड़ा संभल–संभल कर चलता है जीवन में कहीं फिर वे ही दिन लौट कर नहीं आ जायें। उस व्यक्ति के पास पुण्य के उदय में सदुपयोग करने की क्षमता जाग्रत हो जाती है। पुण्य का उदय किसी के भी जीवन में आ सकता है, पुण्य का उदय जीवन में आ जाना बहुत बड़ी बात नहीं है, बहुत बड़ी बात तो ये है कि पुण्य के उदय में हम पापी न बन जायें। पुण्य के उदय में हमारी बुद्धि भ्रष्ट न हो जाये, पुण्य के उदय में हम इतराने न लगें, पुण्य के उदय में हम दूसरों को सताने न लगें।

पुण्य का उदय तब ज्यादा खतरनाक हो जाता है जब व्यक्ति पुण्योदय में अपने स्वरूप को भूलकर के पाप में संलग्न हो जाता है। पुण्य का उदय जीवन में आये, उतना–उतना आता रहे जिससे हमारे जीवन में कभी अहंकार न आये, जिससे हमारी प्रकृति बदले नहीं, पुण्य का उदय उतना ही आये जितने को हम पचा सकें, जिसका दुरुपयोग न कर सकें। यदि हम किसी भी वस्तु का दुरुपयोग कर रहे हैं तो निःसंदेह अपना ही घात कर रहे हैं।

महानुभाव! पुण्य के उदय में व्यक्ति के जीवन में बहुत सारी अनुकूलतायें रहती हैं। पुण्य के उदय में व्यक्ति जहाँ भी जाता है पुण्य उसका पीछा नहीं छोड़ता है आपने सुना होगा कि धन्यकुमार श्रेष्ठी पुत्र जिसने पूर्व में मुनिमहाराज के आहारदान की अनुमोदना की थी वह इतना पुण्य संचय करके लाता है कि उस पुत्र का जन्म होते समय उसकी नाल गाडने के लिये जमीन खोदी तो जमीन में से धन निकल आया, मिट्टी भी धन बन गयी,

उसके पुण्य का ही प्रभाव था। कई बार पुण्य का ऐसा प्रभाव होता है कि वह व्यक्ति जहाँ–जहाँ जाता है उसके पुण्य के माध्यम से उसे अनुकूलता ही अनुकूलता प्राप्त होती चली जाती है। आपने दो भाईयों का प्रसंग सुना होगा, दोनों एक ही माँ के पुत्र थे किन्तु एक पुत्र प्रातःकाल से लेकर संध्याकाल तक भगवान् का नाम लेता रहता, और दूसरा पुत्र अहर्निश व्यसनों में लिप्त रहता। जो पाप कार्य करता था, उसने छोटे भाई से कहा अरे! तू दिन–रात क्या करता रहता है, जब देखो तब पूजा–पाठ में लगा रहता है, अब छोड़ इसे, चल मेरे साथ और जीवन का आनंद ले। उसने कहा मैं आपके साथ नहीं जाऊँगा' मैं तो आपसे भी यही निवेदन करूँगा कि आप भी इन गंदे कामों को छोड़ें और पुण्य कार्य में संलग्न हो वें, भगवान् की पूजा–भक्ति करें। उसने कहा तू ही कर, तूने क्या पाया पुण्य करके, मैं तो मौज मस्ती कर रहा हूँ, इसी में आनंद आ रहा है।

जब दोनों अपने–अपने कार्य के लिये निकले, छोटा भाई मंदिर जा रहा था, संयोग की बात मंदिर में प्रवेश करने से पूर्व उसके पैर में एक कांटा लग गया, फिर भी उसने भगवान् की पूजा–भक्ति की, दूसरा भाई वेश्यावृत्ति आदि गंदे कार्य करने के लिये गया, उसे मार्ग में स्वर्ण मौहरों से भरी एक थैली मिली, शाम को जब दोनों मिले, बड़ा भाई कहता है–क्या बात है लंगडाता क्यों है? कुछ नहीं मेरे पैर में काँटा चुभा है। कहाँ चुभा? मंदिर में प्रवेश कर ही रहा था, देहरी पर ही कांटा चुभ गया, मेरी ही गलती रही मैं देखकर नहीं चला, बड़ा भाई बोला–हाँ–हाँ और जा मंदिर, और अपनी स्वर्ण मोहरों की थैली दिखाता हुआ बोला देख मुझे आज ये धन मिला, देख मैंने तुझसे कहा था, अगर तू मेरे साथ चलता तो तुझे भी ऐसा ही धन प्राप्त होता।

उसने कहा भैया ऐसा नहीं है, मैं पाप कार्य नहीं कर सकता। छोटे भाई के मन में शंका उत्पन्न हुयी, ऐसा हुआ कैसे, वह अवधिज्ञानी मुनिमहाराज के समीप दर्शन करने गया, महाराज से अपनी जिज्ञासा पूछी—महाराज! मैं नित्य ही भगवान् की पूजा करता हूँ, अभिषेकादि पुण्य कार्य करता हूँ फिर भी मेरे पैर में आज काँटा लग गया, और मेरा भाई इतना पाप करता है उसे सोने की थैली मिली, मैं उसे क्या उत्तर दूँ।

मुनिमहाराज ने कहा—पूर्वभव में तूने ऐसी प्रवृत्ति की जैसी प्रवृत्ति आज तेरा भाई कर रहा है और पूर्व भव में तेरे भाई ने ऐसी प्रवृत्ति की जैसी तुम आज कर रहे हो। तेरे भाई का पूर्व के पुण्योदय से आज राज्याभिषेक होना था, महा राज्य की प्राप्ति होनी थी किन्तु आज इस भव में उसने इतने पाप कृत्य करके पूर्व के पुण्य को काट दिया और घटाता—घटाता वह राज्य सिर्फ कुछ सोने के सिक्कों की थैली के रुप में बचा, और तूने जो पूर्वभव में पाप किये थे, उन पापों के फलस्वरूप आज तुझे फाँसी की सजा होनी थी किन्तु तू पुण्य करके अपने पाप को काटता गया, काटता गया जिस समय तेरे पैर में काँटा लगा था वह शूल नहीं तुझे शूली मिलनी थी, पुण्य करके तूने शूली को शूल में परिवर्तित कर दिया। उसका राज्य घटकर स्वर्ण थैली में बंधकर रह गया और तेरी शूली शूल में बदल गयी।

महानुभाव! पुण्य—पाप कभी भी किया हो फल मिलता जरूर है, इसे कोई नकार नहीं सकता, इसलिये जीवन में यह सदा श्रद्धान रखो कि हमारे कर्म का फल हमें ही भोगना पड़ेगा। संसार का ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो हमारे कर्म को हमसे छीन ले और संसार में ऐसा भी कोई व्यक्ति नहीं है जो अपना कर्म हमें दे दे। न हम किसी का पुण्य ले सकते हैं, न किसी का पाप

ले सकते हैं। ऐसा कोई परमात्मा भी नहीं है जो हमारे पाप को छीन कर हमें अपना पुण्य दे दे, और ऐसा भी कोई शैतान नहीं है जो हमारा पुण्य छीन कर हमें अपना पाप दे दे। यह स्वतंत्रता है हमारी, हमें हमारे ही कर्मों का फल भोगना पडेगा, कर्म का शुभाशुभ फल हम चाहें आज भोगें या कल उन कर्मों को अन्यथा करने में हमारे सिवाय अन्य कोई भी समर्थ नहीं है। हम अपने कर्मों को मंद कर सकते हैं, हम अपने कर्मों को नष्ट कर सकते हैं, हम अपने कर्मो को बढ़ा सकते हैं, हम अपने कर्मों को घटा सकते हैं, हम ही स्वयं के जिम्मेदार हैं और कोई भी हमारे सिवाय कर्मों का जिम्मेदार नहीं है। चाहे हम किसी के निमित्त से पुण्य कर रहे हैं, चाहे किसी के निमित्त से पाप कर रहे हैं निमित्त चाहे कोई भी हो किन्तु पुण्य और पाप करने वाले यदि हम हैं तब निःसंदेह पुण्य पाप का फल भी हमें ही भोगना पड़ेगा।

ऐसे कितने पुरुष हुये हैं ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, सुभौम चक्रवर्ती और भी अनेक–अनेक महापुरुष हुये जिन्होंने देखा प्रकृति ने उनका साथ दिया, रावण के जब पुण्य का उदय था तब त्रिकुटाचल पर्वत पर लंका बसाकर तीन खण्ड पर राज्य किया, नारायण श्रीकृष्ण ने जब पुण्य का उदय था जल के मध्य द्वारावती नगरी बसाकर के राज्य किया त्रिखण्ड का वैभव भोगा। जब पुण्य उदय होता है तो प्रकृति भी उनका साथ देती है, मिट्टी भी छुओ तो स्वर्ण बन जाती है, पत्थर भी रत्न बन जाता है। पुण्य के उदय में सब अनुकूलतायें अपने आप बनती चली जाती हैं किन्तु जब पाप का उदय आता है तो ऐसा लगता है कि आश्चर्य हो रहा हो। पाप का उदय जब आया तो जल में बनी दोनों नगरी द्वारावती और लंका भी जल गयीं। पाप के उदय में जल भी जला देता है, पुण्य के उदय में अग्नि भी जल बन जाती है। आपको ज्ञात होगा जब सीता जी की अग्नि परीक्षा

हुयी तब अग्नि भी जल बन गयी थी और द्वारावती जो जल के बीच थी वह जल गयी, वहाँ के जल से बलभद्र और नारायण ने अग्नि बुझाने का प्रयास किया तो वह जल भी पेट्रोल का काम करने लगा।

शुभे स्वस्यानुकूलानि चेतनाचेतनानि वै।
प्रतिकूलानि तान्येव जीवस्याशुभकर्मणि।।

पुण्योदय में चेतन–अचेतन सभी पदार्थ अपने अनुकूल होते हैं और पापकर्म के उदय में वे ही पदार्थ प्रतिकूल हो जाते हैं।

महानुभाव! आपके जीवन में भी कई बार पुण्य का उदय आता है, उस पुण्य के उदय में आप चाहें तो सद्कार्य भी कर सकते हैं और आप चाहें तो बुरे कार्य भी कर सकते हैं। कोई भी कर्म आकर के तुम्हारा हाथ नहीं रोकता कि इस पुण्योदय में पुण्य का कार्य नहीं कर सकते आप उस समय मन से, वचन से, काय से कैसे भी पुण्य का कार्य कर सकते हैं उसी पुण्य के उदय में पाप का कार्य भी किया जा सकता है, न तो कर्म तुम्हारा हाथ पकड़ता है, न कर्म तुम्हारी जिह्वा को पकड़ता है, तुम अपशब्द क्यों बोलते हो, न तुम्हारा कर्म तुम्हारे धन पर रोक लगाता है कि तुम दान नहीं दे सकते, न तुम्हारा वह पुण्य मन को रोकता है कि तुम अच्छे–अच्छे कार्य नहीं कर सकते अच्छा सोच नहीं सकते। पुण्योदय में जितना चाहे उतना अच्छे से अच्छा किया जा सकता है, और उसी पुण्य उदय में पाप भी किया जा सकता है, बस इतना सा कार्य इस मनुष्य को स्वयं के विवेक से करना है इसे ही पुरुषार्थ कहते हैं। अनुकूलता में हम अनुकूल कार्य करने का प्रयास करें, जब पुण्य का उदय आ रहा है उस समय हम पुण्य कार्य करने का विवेक रखें। जिसके पास विवेक है कि मैं इस पुण्य उदय में खूब पुण्य कमाऊँ, खूब पुण्य कमाऊँ फिर उसे जीवन में पाप का स्थान मिल नहीं पायेगा वह अपने पुण्य

को चक्रवर्ती ब्याज की तरह बढ़ाता जाता है वह आगे कालान्तर में चक्रवर्ती सम वैभव को प्राप्त करता है, कालान्तर में वह मोक्ष को प्राप्त करने में भी समर्थ होता है।

महानुभाव! जीवन में कभी ये न सोचो कि पुण्य का उदय आये, ये न सोचो कि पाप का उदय आ गया तो क्या करें, 'पुण्य के उदय में भी पुण्य कमाने का पुरुषार्थ करो, पाप के उदय में भी पुण्य कमाने का पुरुषार्थ करो। ये सोचो कि पूर्व में जो मैंने पाप किया है उसका फल मुझे ही भोगना है वह भी समता परिणामों के साथ। 'यदि बारिश हो रही है तो आप छाता तान सकते हैं, बारिश को नहीं रोक सकते, यदि आँधी आ रही है और तुम्हारे चूल्हे में अग्नि जल रही है तो पूरी आँधी को नहीं रोका जा सकता किन्तु हाँ अपने चूल्हे को ढका जा सकता है। यदि कहीं आपके प्रतिकूल वातावरण हो रहा है जिससे आपको क्रोध आये, आप अपशब्द कहें उस समय आप माहौल नहीं बदल सकते किन्तु मौन तो लिया जा सकता है, उस स्थान पर से आप अलग हो सकते हैं जिस स्थान पर क्रोध के आवेश में आकर आप कोई बहुत बड़ा पाप कर सकते हैं।

उस स्थान पर मत रुको जहाँ पहुँचकर आपका मन खराब हो सकता है, जहाँ पहुँचकर आपके शरीर से कोई पाप क्रिया हो सकती है, जहाँ पहुँचकर आप अपने साधन का, धन का दुरुपयोग कर सकते हैं। ऐसे स्थान से बच जाओ यही पंचम काल की सबसे बड़ी साधना है और वहाँ पहुँच जाओ जहाँ पहुँचकर के आपके मुख से अच्छे शब्द निकलते हों, वहाँ पहुँच जाओ जहाँ पहुँचकर आपके मन में अच्छे–अच्छे विचार आते हैं, जहाँ आप अपने शरीर से पुण्य की क्रियायें करते हो, जहाँ आप अपने धन व साधन का अच्छे–से अच्छा सदुपयोग करते हैं, पुण्य का अर्जन करने के लिये सम्यक् पुरुषार्थ करते हैं। यही विवेक है यही

आपका पुरुषार्थ है, पंचमकाल की यही तो सबसे बड़ी तपस्या है।

महानुभाव! जीवन में पुण्य पाप तो आता–जाता रहेगा, पुण्य और पाप से बचने का उपाय यही है कि जिस समय तुम्हें पाप का फल प्राप्त हो रहा है उस समय पुण्य का छाता लगा लो तो संभव है उस पाप के फल से कुछ तो राहत मिलेगी, और आगे के लिये आपके लिये पुण्य संचय हो जायेगा, हो सकता है पाप का फल नहीं भोगना पड़े और वह पुण्य आपके लिये मोक्षमार्ग में भी सहकारी बन सकता है, इसलिये ऐसे पुण्य का आप संचय करें। आचार्यों ने कहा भी है–

पुण्यात् सुरासुरनरोरगभोगसाराः
श्रीरायुरप्रमितरूपसमृद्धयो धीः।
साम्राज्यमैन्द्रमपुनर्भवभाव–निष्ठ–
मार्हन्त्यमन्तरहितं खलु चारुसौख्यम्।।

पुण्य से सुर, असुर, मनुष्य और धरणेन्द्र के श्रेष्ठ सुख, लक्ष्मी, आयु अनुपम, सौन्दर्य, संपत्ति, बुद्धि, इंद्र का साम्राज्य, पुनर्जन्म से रहित आर्हन्त्य पद और अन्तरहित सुन्दर सुख की निश्चित ही प्राप्ति होती है।

महानुभाव! पुण्य का सदुपयोग करें, पुण्य में फूलें नहीं, पाप में कूलें नहीं, संसार के झूले में झूलें नहीं बस संसार के इस भ्रमण से मुक्त होकर के आत्मा के शाश्वत वैभव को पाने का सम्यक् पुरुषार्थ करो, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ.....।।

।।श्री शांतिनाथ भगवान् की जय।।
।।जैनं जयतु शासनं–विश्वकल्याणकारकं।।

''आत्म हित के सूत्र''

महानुभाव! संसार में जितने भी जीव हैं वे सभी चराचर जीव अपने–अपने अनुसार सुख और शांति चाहते हैं, सबकी सुख और शांति की परिभाषायें अलग–अलग हैं। प्रत्येक प्राणी हित की कामना करता है किन्तु हित का सम्यग्मार्ग एक ही था, एक ही है और एक ही होगा। वह सम्यक्मार्ग है–'मोक्षमार्ग, रत्नत्रय का मार्ग। संसार के अनंत मार्ग हैं संसार में अनंत प्रकार की सुख–शांति की परिभाषायें हैं, संसार में अनेक प्रकार के हित के मार्ग की चर्चायें हैं किन्तु वर्तमान काल में जो व्यक्ति मोक्षमार्ग में चलने में असमर्थ हैं गृहस्थ जीवन जी रहे हैं उन प्राणियों के लिये ऐसा कौन–सा उपाय है जिसके माध्यम से उन्हें जीवन में कुछ सुखानुभव हो, आनंदानुभव हो, उन्हें ऐसा लगे जिसे प्राप्त करके वे अपने जीवन को धन्य, सार्थक और सफलीभूत मान सकें।

आत्मा का हित कैसे हो? एक सामान्य व्यक्ति अपनी आत्मा का हित कैसे करे? और हम कैसे मानें कि कौन सा व्यक्ति आत्मा के हित में लगा हुआ है? उसमें क्या मेरी भी गिनती है? क्या मैं आत्मा के हित में लगा हुआ हूँ, क्या मैं आत्महितार्थी हूँ? चार बातें आपको बताते हैं इन चार बातों के माध्यम से आत्महितार्थी का लक्षण ज्ञात किया जा सकता है! जो आत्महितार्थी है उसका पहला लक्षण है। **''चित्त में शांति''** जिसके चित्त में शांति है वह आत्म हितार्थी है, चित्त में शांति नहीं है तब चाहे वह कितना भी तप कर रहा हो, चाहे कितना भी त्याग कर रहा हो, चाहे कितनी ही बड़ी साधना कर रहा हो, खड़े होकर तपस्या करना, विभिन्न प्रकार के आसन से तपस्या करना, शीर्षासन, गोड़ासन आदि पूर्वक तपस्या करना ये सभी तपस्यायें और बड़े–बड़े त्याग, सभी प्रकार के अन्य कार्य यदि आत्मशांति देने में असमर्थ हैं तब

समझना चाहिये वह व्यक्ति अभी आत्महितार्थी नहीं है। आत्महित करने में समर्थ नहीं है।

चित्त की शांति कैसे हो? चित्त की शांति का क्या उपाय है? जिससे मैं चित्त में शांति की स्थापना करके आत्महितार्थी बन सकूँ, आत्मा का हित कर सकूँ क्या कोई उपाय है? आपके अनुसार चित्त की शांति आत्म हित का पहला उपाय है किन्तु हम जानना चाहते हैं उस आत्म शांति का उपाय क्या है? आत्म शांति का उपाय है 'वैराग्य', विरक्ति। जब तक राग की तीव्रता रहती है तब तक आत्मशांति नहीं मिलती। जितना राग तीव्र होता है उतना ही तीव्र द्वेष भी होता है। नदी का एक किनारा जितना लम्बा होता है दूसरा किनारा भी उतना ही लंबा होता है। सिक्के का एक पहलू जितने विस्तार वाला होता है दूसरा पहलू भी उतने विस्तार वाला होता है। राग जितना तीव्र है तो द्वेष भी उतना तीव्र होगा। जिसके प्रति आपका राग है उसके बाधक साधनों के प्रति आपका नैसर्गिक द्वेष हो जायेगा। जिसे आप चाहते हैं वह वस्तु या व्यक्ति आपको प्राप्त हो जाये, आपके राग की पुष्टि होती रहे, किन्तु जो कोई भी आपको ऐसा लगता है कि ये मेरी वस्तु में, व्यक्ति में, राग में बाधक है उसके प्रति सहज ही द्वेष निःसृत होने लगता है।

ये नियम है कि राग मंद होता है तो द्वेष भी मंद होता है। कोई सोचे कि मेरा किसी के प्रति राग नहीं है किंतु द्वेष के परिणाम तो हैं ये संभव नहीं। कोई कहे मेरा किसी के प्रति द्वेष तो है ही नहीं, हाँ राग तो किन्हीं–किन्हीं के प्रति है तो यह भी संभव ही नहीं, 'राग और द्वेष दोनों एक ही आकृति के हैं। यदि चन्द्रमा अष्टमी का है तो परछाई में भी अष्टमी का चन्द्रमा आधा दिखाई देगा, परछाई में पूरा दिखाई नहीं देगा और परछाई में पूरा दिखाई दे रहा है तो आकाश में भी पूरा ही होगा। ऐसा नहीं हो

सकता कि उदीयमान चन्द्र आकाश में अर्द्ध हो और किसी किसी जलाशय में उसका प्रतिबिम्ब पूरा दिखाई दे जाये। ऐसे ही राग तो तीव्रता के साथ हो और द्वेष मंद हो, या द्वेष तीव्रता के साथ हो राग मंद हो तो ऐसा नहीं।

किसी एक के प्रति तीव्र राग हो सकता है जरूरी नहीं कि अनेक के प्रति हो किन्तु जीवन में किसी एक के प्रति विशेष द्वेष भी हो सकता है और ऐसा भी हो सकता है राग एक के प्रति हो और द्वेष अनेकों के प्रति हो और ऐसा भी हो सकता है राग अनेकों के प्रति हो और द्वेष एक के प्रति हो। किन्तु राग और द्वेष जितने तीव्र होते हैं उतनी ही चित्त में अशांति वृद्धि को प्राप्त होती है। किन्तु जो व्यक्ति तत्त्व का चिंतन करते हैं संसार के स्वरुप का चिंतन करते हैं, शरीर के स्वभाव का चिंतन करते हैं, भोगों के फल का चिंतन करते हैं तब उनके जीवन में सहज ही वैराग्य की निष्पत्ति होती है। जैसे–पुष्प में सहज गंध आती है, जल में सहज ही शीतलता रहती है, हवा का स्वभाव सहज ही प्रवाहमान है उसी प्रकार जब संसार–शरीर–भोगों से विरक्ति होने लगती है तब चित्त में सहज ही शांति आने लगती है। उसका चित्त विकारों से और शिकायतों से रिक्त हो जाता है।

जब तक चित्त विकारों से व शिकायतों से रिक्त नहीं है तब तक विरक्त नहीं है। आसक्त चित्त में विरक्ति का भाव नहीं, विकार हीनता का भाव नहीं, आसक्त चित्त में हमेशा माँग रहती है, यह भी मिले–यह भी मिले यह राग का प्रतीक है और जब तक तीव्र राग है, तब तक चित्त सुचिर काल के लिये शांति को प्राप्त नहीं कर सकता। आत्महित की पहली शर्त यही है कि हम चित्त में शांति स्थापित कर लें। आँख बंद करके शांति मिलती है तो आँख बंद करके बैठो, आँख खोलकर शांति मिलती है तो आँख खोलकर बैठो, किसी चित्र को देखकर के शांति मिलती

है तो उसे देखो, किसी को न देखने से शांति मिलती है तो न देखो। 'आकाश में दृष्टि बहुत गहराई तक लेते जाओ, उसमें डूबते जाओ इससे शांति मिलती है तो वैसा ही करो और यदि अपने अंतरंग में झांकने से शांति मिलती है तो अपने अंतरंग में झांकना प्रारंभ कर दो। शांति उत्पन्न होगी तो आत्महित का मार्ग स्वतः ही प्रारंभ हो जायेगा।

आत्म हित का दूसरा सूत्र है–**''हृदय में श्रद्धा''**। आत्महितार्थी का चित्त समीचीन श्रद्धा से भर जाये। जब हृदय में समीचीन श्रद्धा भर जाती है तब भक्ति करने से मन रुकता नहीं, श्रद्धा से भरा हुआ हृदय समर्पित हो जाता है। यदि सरोवर में जल है तो हवा के चलते लहरें उठेंगी ही उठेंगी। यदि अग्नि जल रही है तो हवा के चलते हुये अग्नि की लपटें जिस दिशा में हवा चल रही है उसके विपरीत बलखाती हुयी ऊपर की ओर उठेंगी। ऐसे ही हृदय में निर्मल श्रद्धा भरी हुयी है तो भक्ति प्रस्फुरित होगी, पुष्प खिल रहे हैं तो गंध अपने आप फैलती जायेगी। उस श्रद्धा के सुदृढ़ करने के लिये अपने इष्ट आराध्य के चरणों में अपना सर्वस्व समर्पण कर दो। जिसे मानकर के कहकर के कहीं अहंकार का पोषण हो रहा हो तो उस अहंकार का मर्दन करके अपने चित्त में उस आराध्य के प्रति भक्ति प्रगट करो। ज्यों–ज्यों भक्ति बढ़ेगी त्यों–त्यों श्रद्धा गहरी होती चली जायेगी। सूर्य का ताप ज्यों–ज्यों अधिक होता चला जाता है फलों को तपाता है त्यों–त्यों फलों में मिठास आती है। सूर्य की किरणें पुष्पों पर पड़ती हैं ज्यों–ज्यों पुष्प तपते हैं उनमें पराग बढ़ता जाता है सौरभ बढ़ता जाता है। ज्यों–ज्यों आकाश में आद्रता बढ़ती है त्यों–त्यों ओस बिंदु भी बढ़ते चले जाते हैं।

भक्ति के माध्यम से श्रद्धा के वृक्ष की जड़ें और गहरी होती चली जाती हैं जैसे सूर्य के प्रकाश, जलवायु, खाद आदि

उर्वराशक्ति से वृक्ष की जड़ें गहरी जाती हैं तो वृक्ष ऊँचा होता चला जाता है। ऐसे ही जिसके जीवन में भक्ति बढ़ती चली जा रही है समझो श्रद्धा भी बढ़ती जा रही है। यह भक्ति श्रद्धा की जड़ों को मजबूत करने का साधन है। तो जिसके चित्त में शांति हो, जिसके हृदय रुपी हृद में श्रद्धा का निर्मल नीर परिपूरित हो, तो वह चित्त आत्महितार्थी हो सकता है।

आत्महितार्थी का तृतीय लक्षण है–**''वाणी में मिठास''** जो व्यक्ति आत्म हितार्थी है कठोर, कर्कश, क्रूर, निंद्य, अलीक वचनों का प्रयोग नहीं करता, जिसके वचन निंदा चुगली युक्त नहीं होते, किसी का अपमान करने वाले वचन नहीं होते, उसके वचनों में ऐसा लगता है मिशरी घुल रही हो। यह वाणी में मिठास कैसे आती है? ज्यों–ज्यों जीवन में संयम की वृद्धि होती जाती है त्यों–त्यों वाणी में मिठास आती है। शरीर पर नियंत्रण, मन पर नियंत्रण, वचनों पर नियंत्रण यह संयम का प्रतिफल है इसी का नाम संयम है। तो आत्महितार्थी कभी क्रूर शब्दों का प्रयोग नहीं करता। जब क्रूर शब्दों का प्रयोग कर रहा है तब समझो वह आत्म हितार्थी नहीं है। जब किसी की निंदा कर रहा है उन क्षणों में वह आत्म हितार्थी नहीं है, जब किसी का तिरस्कार कर रहा है उन क्षणों में आत्महितार्थी नहीं है, जब स्वयं के गुणों की प्रशंसा कर रहा है उन क्षणों में आत्महितार्थी नहीं है।

स्वश्लाघा परनिंदा च मत्सरो महतां गणे।
असंबद्धप्रलापित्वमात्मानं पातयन्त्यधः।।

अपनी प्रशंसा, परनिंदा, महापुरुषों के समूह में ईर्ष्या और असंबद्ध प्रकरण विरुद्ध बहुत बोलना ये कार्य अपने आप को नीचे गिरा देते हैं।

ऐसा व्यक्ति आत्महितार्थी कदापि नहीं हो सकता। जो आत्महितार्थी होता है उसकी वाणी में मिठास होती है, उसकी वाणी

को सुनने के लिये अनेक लोग लालायित रहते हैं। वस्तु तत्त्व का यथार्थ वर्णन करने वाली वाणी, सत्य से साक्षात्कार कराने वाली वाणी, अपने स्वरूप को प्राप्त कराने में निमित्त बनने वाली वाणी और स्व–पर के चित्त को शांति देने वाली वाणी निःसंदेह संयम के माध्यम से होती है। आत्म हितार्थी की वाणी ऐसी ही होती है। आत्महितार्थी कम बोलता है किन्तु उसके बोल कम नहीं होते। आत्महितार्थी का मौन रहना भी विद्वानों के सुव्यवस्थित अनुशासित एवं सारभूत भाषण से ज्यादा महत्वपूर्ण होता है। साधु मौन लेकर भी बैठे तो उसका मौन भी इतना प्रभाव छोड़ सकता है कि संभव है किसी विद्वान के वचन भी इतना प्रभाव न छोड़ पायें।

आत्महितार्थी अपनी वाणी में मिठास घोलता है वह मिठास बाहर की शक्कर मिशरी खाने से नहीं आती वाणी में मिठास आती है कषायों का मर्दन करने से। जिसने अपनी कषायों को संयम के कोल्हू में पेल दिया है फिर उसकी वाणी में से गन्ने जैसा मीठा रस निकलने लगता है। आत्महितार्थी का चतुर्थ लक्षण है–**''चेहरे पर सौम्यता''**। जिसके चेहरे पर सौम्यता है, जिसका चेहरा अंतरंग के आनंद से आनंदित है वही आत्महितार्थी हो सकता है और ये तब संभव है जब व्यक्ति तत्त्व चिंतन करे, स्वाध्याय करे। ऐसा करने से तथा ऋषियों–मुनियों की साधुओं की तत्त्वयुक्त वाणी सुनने से सौम्यता आती है।

चेहरे की सौम्यता न केवल स्वयं के लिये वरन् दूसरों को भी धर्म से जोड़ने वाली होती है। जिसके चेहरे पर क्रूरता की रेखायें दिख रही हों, आँखों में लालिमा दिख रही हो, भौहें तनी हुयी हों, होठ फड़फड़ा रहे हों और जिह्वा से अस्पष्ट कटुक निंदनीय शब्द निकल रहे हों उस समय वह प्राणी आत्महितार्थी नहीं हो सकता। चेहरे की सौम्यता देखकर के पशु–पक्षी भी अपनी कषायों को शांत कर लेते हैं, इसीलिये तो आप मुनिराज

के दर्शन करने आते हैं, मुनियों के मूक आनंद–मौन चेहरे को देखकर आपकी कषायें धुलने लगती हैं। सौम्य मुद्रा झरने की तरह से है जिसे आपकी आँखें एक बार भी देखती हैं तो उस साधु की सौम्य मुद्रा रूपी झरने से आपके चित्त में विद्यमान विकारों की वह कलुषता, कालिमा और कषायों का पंक सहज ही धुलने लगता है।

महानुभाव! आप आत्महितार्थी हैं तो इन चार सूत्रों को जीवन में अंगीकार करें, नहीं हैं बनना चाहते हैं तब इन चार सूत्रों का अभ्यास करें और सुचिर काल से आत्महितार्थी कहने का दम्भ भर रहे हैं और इन चारों में से एक भी लक्षण नहीं है तो आप स्वीकार कर लें कि अभी आप आत्महितार्थी बन नहीं पाये। क्योंकि स्वीकार कर लोगे तो बनने की कोशिश करोगे और स्वीकार नहीं करोगे तो केवल दम्भ भरते रह जाओगे, आत्महित का मार्ग बहुत पीछे रह जायेगा। इसीलिये इन चार लक्षणों को देखते हुये अपनी आत्मा को मोक्षमार्गी बनायें आत्महित के मार्ग में प्रवृत्त हों। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ.....।।

।।।श्री शांतिनाथ भगवान् की जय।।

।।जैनं जयतु शासनं–विश्वकल्याणकारकं।।

''उन्नति के चार कदम''

महानुभाव! संसार का प्रत्येक प्राणी अपनी उन्नति चाहता है, अपना विकास चाहता है, उत्थान चाहता है, सोचता है मैं किस प्रकार आगे बढ़ूँ। जो जहाँ है वह वहाँ रहकर के संतोष का अनुभव नहीं कर पा रहा। चाहे आध्यात्मिकवादी है और चाहे भौतिकवादी, चाहे सिद्धान्तवादी है चाहे अवसरवादी, चाहे न्यायप्रिय है और चाहे चापलूस, चाहे साहूकार और सज्जन है, चाहे चोर और बदमाश, चाहे सेवक है चाहे स्वामी ऐसा लगता है प्रत्येक व्यक्ति आगे बढ़ना चाहता है। उसने न जाने किस–किस से स्पर्धा कर रखी है। सोच रहा है कि मैं अब उससे आगे निकलूँगा, कदाचित उसकी दृष्टि में वह उससे आगे निकल भी गया दूसरे क्षण दूसरा स्पर्धी तैयार कर लेता है उससे आगे निकलना चाहता है, कदाचित् उससे भी आगे निकल गया तो तीसरा स्पर्धी तैयार करता है, चौथा–पाँचवा तैयार करता है।

बिना कॉम्पिटीशन या कॉम्पिटीटर के वह अपने जीवन को बुतवत् मान लेता है, पाषाण की मूर्ति की तरह से। वह सोचता है कि मुझे कुछ करना चाहिये। आश्चर्य है कि आध्यात्मवादी भी कुछ करने के चक्कर में हैं वे भी शांति से बैठ नहीं पा रहे। सत्यार्थ तो यही है कि हम जहाँ हैं वही ठहर जायें सब कुछ वही है हमें कहीं दौड़ नहीं लगाना है। किन्तु जो जहाँ है वहाँ ठहरने में असमर्थ है यदि चलना ही है कोल्हू के बैल की तरह से। जो भी आपने अपने जीवन के लक्ष्य बनायें हैं उन्हें पाना शायद आपका ध्येय हो, आपकी खुशी हो, मजबूरी हो प्राप्त करना तो प्राप्त करो, कैसे प्राप्त करें? उन्नति के चार कदम हम कैसे चलें? चार बातें आपसे कहते हैं, संभव है वे चार बातें आपको आगे बढ़ने में प्रेरणा प्रदान करें, संबल प्रदान करें। हो सकता है

आपके लिये आनंद का आधार बन जायें, हो सकता है वे आपकी सहचरी बनकर के आपके पथ की थकान को दूर भी कर सकते हैं और आपको आगे बढ़ाने के लिये मानो आपके हाथ को थाम करके आपको सहारा भी दे सकते हैं। जैसे वृद्ध पुरुष के हाथ में लगी हुयी लकड़ी उसको चलने में सहायक होती है। वृद्ध पुरुष कहता है अब मुझे अपने पैरों पर भरोसा नहीं रहा लाठी नितान्त आवश्यक है, उस लाठी के माध्यम से ही मैं आगे बढ़ने में समर्थ हो सकता हूँ। तो जैसे वृद्ध पुरुष के हाथ में लगी लाठी, विकलांग के साथ में लगी वैशाखी, बालक को चलने के लिये तीन पहिये की गाड़ी का सहारा आवश्यक होता है ऐसे ही हमारे भी चार सहारे हैं।

उन्नति का मार्ग प्रारंभ होता है **आत्मविश्वास** के साथ आप जिस स्थान पर, जिस लक्ष्य तक पहुँचना चाहते हैं उस लक्ष्य के प्रति विश्वास प्राप्त करने वाला मैं हूँ तो अपने प्रति विश्वास, प्राप्त करने का मार्ग यही है तो उस मार्ग पर विश्वास और प्राप्त करने की विधि और साधन यही हैं उन सभी के प्रतिपूर्ण विश्वास होना अति आवश्यक है। विश्वासहीन व्यक्तियों को मंजिल नहीं मिलती जैसे चित्त में बनी नदी से किसी की प्यास नहीं बुझती, जैसे प्लास्टिक के फलों को देखने से या उनको ग्रहण करने से क्षुधा शांत नहीं होती, जैसे चित्र में बने पुष्पों से नासा नृप्त नहीं होती, चित्र पर बने पहाड़ पर चढ़कर ऊँचाई को नहीं छूआ जा सकता, वैसे ही आत्मविश्वास से हीन होने पर जीवन को वरदान स्वरुप नहीं बनाया जा सकता, जीवन को सार और आधारभूत नहीं बनाया जा सकता, जीवन को हार मानकर के खोया जा सकता है, अभिशाप मान करके जीया जा सकता है, जहर का सा घूँट बनाकर के पीया जा सकता है।

यदि उन्नति के चार कदम आगे बढ़ाना है तो सबसे पहली बात है अपने अंदर आत्मविश्वास जगाओ। आप सब कुछ कर सकते हो, आप उस लक्ष्य को प्राप्त कर लोगे, वह लक्ष्य आपको ही प्राप्त करना है, आप ही प्राप्त करोगे ये ध्वनि आपके अंतरंग से ध्वनित हो जाये विश्व की कोई शक्ति आपको रोक नहीं सकती। आपका विश्वास दृढ़ होना चाहिये। कई बार लोग कहते हैं कि अति विश्वास भी तो खतरनाक होता है, अति विश्वास भी कुछ मिथ्याविश्वास के साथ है, न्यून विश्वास में भी पूर्ण विश्वास की कमी है इसीलिये जितना विश्वास चाहिये उतना ही ठीक है। सौ प्रतिशत का आशय होता है सौ में से सौ 100/100 कोई कहे कि दौ सौ (200%) प्रतिशत मेरी बात को सही मानो तो इसका आशय है वह 100% झूठ अपनी बात में मिक्स कर रहा है। सौ में से दो सौ कैसे प्राप्त किये जा सकते हैं। कोई 150% कहता है तो उसकी 50% बात तो मिथ्या सिद्ध हो जाती हैं। प्रतिशत कहे 100 या 99 तक तब तो ठीक है किन्तु आगे कह रहा है तो मिथ्या का पुट लगा रहा है। कम कह रहा है तो उस सम्यक्पने में कुछ न्यूनता है।

महानुभाव! आत्मविश्वास जगे, जब आत्मविश्वास जग जाता है तब उसका आशय है आपकी पात्रता लक्ष्य को प्राप्त करने के सम्मुख है। जितनी बेचैनी तड़पन आपको अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में पैदा हो रही है और आप पात्र बन गये हो तो अब मंजिल में तड़पन हो रही है कि कब वह आपको प्राप्त हो जाये।

राह संघर्ष की जो चलता है वो ही संसार को बदलता है।
जिसने रातों से जंग जीती है, सूर्य बनकर वहीं निकलता है।।

मोक्षमार्ग में चलने वाला योगी मोक्ष को प्राप्त करने का जितना पुरुषार्थ करता है, सब कुछ छोड जाता है उस मोक्ष को प्राप्त

करने के लिये, जब मोक्ष प्राप्त करने की पात्रता हासिल हो गयी तब चार घातिया कर्मों को नष्ट कर दिया अब चार अघातिया कर्मों को नाश करने के सम्मुख है, अयोग केवली बन गया। अब यूँ कह सकते हैं कि उस योगी के मन में कोई तड़पन नहीं है किन्तु माना मुक्ति सुंदरी ही उस योगी को प्राप्त करने के लिये बेचैन है। ऐसे ही जो लक्ष्य आप प्राप्त करना चाहते हो उस लक्ष्य को प्राप्त करने की आपने काबलियत प्राप्त की है, योग्यता, क्षमता पैदा की है जिसके लिये हम डिजर्व करते हैं वह वस्तु न भी मिले तो भी क्या फर्क पड़ता है आपकी योग्यता को तो कोई छीन नही लेगा। आत्मविश्वास चेतना की सबसे बड़ी निधि है, आत्म विश्वास उन्नति के पथ का सबसे बड़ा कदम है। ये पहला कदम रखने के बाद ही अन्य कदमों की संभावना हो सकती है।

आत्मविश्वास का ढांचा ही टूट गया तो संभव ही नहीं है कि आगे कुछ बनाया जा सके। जिस भवन के पिलर ही नहीं हैं तब भवन को कैसे तैयार किया जायेगा। ताना–बाना डालकर के किसी वस्त्र को बनाया जाता है जब ताना ही नहीं है तो बाना कैसे डालेगा, आत्मविश्वास ताने की तरह से है। आत्मविश्वास सीढ़ी की दो बल्लियों की तरह से है, आत्मविश्वास भवन की नींव की तरह से है, आत्मविश्वास जड़ों की तरह से है जो कि परमावश्यक है।

जब आत्मविश्वास जाग्रत हो जाये तब उसे बनना चाहिये **'उद्यमशील'**। जो व्यक्ति आत्मविश्वासी होकर के उद्यम नहीं करते हैं तब भी सफलता चलकर के नहीं आती उसके लिये यथेच्छ, अपेक्षित उद्यम करना भी अनिवार्य है। भोजन प्राप्त होगा, भोजन प्राप्त हुआ भी यदि कर संचालन किये बिना ही चाहें कि स्वतः ही भोजन मुखाविष्ट हो जाये तो ऐसा संभव ही नहीं। मुख प्रविष्ट करने के लिये स्वकर का संचालन भी आवश्यक है। जब

सुखद समीचीन क्रिया से परिणत होता है तब सम्मुख रखा भोजन उदर तक पहुँचता है। भोजन की थाली को देखने मात्र से भोजन उदरस्थ नहीं होता, भोजन की थाली देखने मात्र से रसना स्वाद का अनुभव नहीं करती, उसके लिये उद्यमशील होना चाहिये।

वृष्टिशीतातपक्षोभ–काममोहक्षुधादयः।
न हनन्ति यस्य कार्याणि सोऽग्रणीर्व्यवसायिनाम्।।

वर्षा, ठंड, घाम, क्षोभ, काम, मोह, तथा क्षुधा आदि जिसके कार्यों को नष्ट नहीं करते वही उद्योगी मनुष्यों में अग्रणी–प्रधान है।

उद्यमशील व्यक्ति बिना किसी शर्त के परिश्रम करे, कड़ी मेहनत करे, क्योंकि प्रारंभ में उसे लगता है कि उससे नहीं होगा वह और कड़ी मेहनत करता है पुनः उसे लगता है मैं इससे ज्यादा नहीं कर पाऊँगा, और–और कड़ी मेहनत करता है कहता है मैं इससे ज्यादा नहीं कर पाऊँगा। वह अपनी शक्ति को ज्यों–ज्यों विकसित करता जाता है त्यों–त्यों वह कड़ी मेहनत करने में समर्थ हो जाता है, सहन करने में समर्थ हो जाता है। प्रारंभ में छोटा सा कष्ट भी पहाड़ जैसा लगता था अब उस श्रम करने वाले व्यक्ति ने स्वयं को पत्थर जैसा कठोर बना लिया, अब वह सहन करने में समर्थ है। पहले जहाँ दो घंटे भी मेहनत करने पर थककर के चकनाचूर हो जाता था, आज वही व्यक्ति सुनकर के आश्चर्य होता है कि आज 24 घंटे में से 22 घंटे तक मेहनत कर रहा है। कहाँ से वह शक्ति आयी? उद्यमशीलता निःसंदेह मंजिल तक पहुँचाने के लिये उन्नति के शिखर पर बढ़ाने के लिये द्वितीय सोपान है, इसीलिये उद्यमशील व्यक्ति सफलता के निकट होते हैं।

तृतीय कदम है–**''धैर्य''**, जीवन में धैर्यशीलता भी आवश्यक है, आत्मविश्वास जब डगमगाने लगता है तो धैर्य भी खण्डित हो

जाता है। किसान का बालक जब हर–क्षण जमीन को खोदकर देखेगा कि वृक्ष कितना बड़ा हो गया तो वृक्ष न मिलेगा। धैर्य धारण करो, बीज बोया है तो अंकुर भी पैदा होगा। कुआँ खोदते जाओ–खोदते जाओ जल निकलेगा। आत्मविश्वास के साथ यदि निरंतर परिश्रम चल रहा है तो फल की प्राप्ति होगी ही परन्तु धैर्य धारण करना आवश्यक है। क्योंकि जो वृक्ष जितने समय बाद फल देता है या दे सकता है उतना समय तो उसे चाहिये, उससे कम समय में फलों की प्राप्ति नहीं होगी। बीज भूमि में बोते ही अंकुर नहीं उग जाता समय चाहिये, अंकुर होते ही तुरंत पौधा नहीं बनता समय चाहिये, पौधा बनते ही तुरंत उसमें पुष्प नहीं आ जाते उसके लिये भी समय चाहिये, पुष्प आने के उपरांत तुरंत फल नहीं लगते उसके लिये भी समय चाहिये, और फल लगते ही तुरंत मीठे नही हो जाते, उसमें मिठास आने के लिये समय चाहिये।

अतः धैर्य धारण करो, अधीर मत होओ। जितना धैर्य धारण कर सकते हो उतने सुमधुर फल को प्राप्त करने की योग्यता अधिक कर सकते हो। वृक्ष पर लगा हुआ फल तुरंत तोड़कर के खाओगे तो वह कड़ा होगा, खट्टा होगा, स्वादहीन होगा किन्तु तब तोड़ो जब वह तप जाये, वह जितना अधिक तपेगा उतनी ही अधिक मिठास बढ़ेगी और आपके अन्दर खाने की प्यास बढ़ेगी। प्यास जब तीव्र होती है तब खारे जल में भी मीठा स्वाद आ जाता है, भूख जब तीव्र होती है तब सूखे टिक्करों में भी 56 प्रकार के व्यंजनों का स्वाद लिया जा सकता है। धैर्य से कार्य करने वाला व्यक्ति फल को पकाकर खाने में समर्थ होता है। अधीर व्यक्ति वृक्ष पर लगे फल को भी पका नहीं पाता। "Patience is the best remedy for every trouble."सफलता प्राप्त करने के लिए धैर्य श्रेष्ठ, शक्तिशाली योद्धा है। Anonymous ने भी कहा है

''धैर्यवान् मनुष्य आत्मविश्वास की नौका पर सवार होकर आपत्ति की नदियों को सफलतापूर्वक पार कर जाते हैं।'' इतना ही नहीं कई लोग तो धैर्य के माध्यम से उन परिस्थितियों को भी पार कर जाते हैं जो एक निश्चित असफलता ही थी।

चतुर्थ कदम है उन्नति के मार्ग पर बढ़ने का **''कृतज्ञता''**। जीवन में कई बार ऐसा भी होता है कि व्यक्ति आत्मविश्वासी भी है, उद्यमी है, धैर्य भी उसके पास है, किन्तु कृतज्ञता नहीं है, अपने सहयोगियों के प्रति कृतज्ञता का भाव नहीं रखता ऐसा व्यक्ति भी उन्नति के मार्ग में चलना प्रारंभ करता है किंतु मंजिल पर पहुँचने से पहले अंत की सीढ़ी से पैर फिसल जाता है और धड़ाम से नीचे आ जाता है। वह उस तरह से है जैसे कोई कलाकार रस्सी पर चल रहा था और चलते–चलते अंतिम छोर तक पहुँचने ही वाला था कि रस्सी टूट गयी वह धड़ाम से नीचे आ गया। उस तैराक की तरह से है जो तैरकर के नदी के किनारे तक आने वाला था अचानक उसकी श्वॉस रुकी घबड़ा गया और डूब गया। ऐसे ही जिसके मन में कृतज्ञता का भाव नहीं आता है ऐसा व्यक्ति भी जीती बाजी को हार जाता है, जिस व्यक्ति के जीवन में कृतज्ञता का भाव नहीं होता वह अपने जीवन के मधुर फल का लाभ नहीं ले पाता। **''जिंदगी में शिकायतें कम और शुक्र ज्यादा करने से जिंदगी सरल व मंजिल आसान हो जाएगी।''**

कृतज्ञता का भाव होता है तो राज–वैभव का भोग उसे आनंद देता है और कृतज्ञता का भाव नहीं होता है तो दिग्विजय प्राप्त करके भी उस राज–वैभव भोग को भोग नहीं पाता वह रोग की तरह से लगने लगता है उसे उसमें भी दुःख का अनुभव होने लगता है। अपने सहयोगी–साथियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित किये बिना जो व्यक्ति अपनी उपलब्धि का भोग करना चाहता है उस भोगने योग्य वस्तु में भी कीड़े पड़ जाते हैं, मानो वह सड़–गल

जाती है, नष्ट हो जाती है इसलिये जीवन में कृतज्ञता का भाव रखो। ये चार बातें उन्नति के सूत्र हैं, विकास के सोपान हैं, इन चार सोपानों पर जो चलता है उसका आगे का मार्ग निराबाध, निराकुल और आनंददायी बन जाता है। इसीलिये यदि अपने जीवन में उन्नति चाहिये, चाहे भौतिक उन्नति, चाहे आध्यात्मिक उन्नति, सिद्धान्तिक उन्नति, सामाजिक उन्नति, व्यवहारिक उन्नति या और भी आपकी उन्नति की परिभाषा हो जिस किसी प्रकार की उन्नति चाहिये ये चार सोपान आप जहाँ भी लगा लेंगे उन पर चलकर आप जहाँ भी मंजिल प्राप्त करना चाहेंगे संभव है आपकी मंजिल सरक करके आपके पास आ जायेगी। यदि ये चार सोपान की सीढ़ी आपने हटा दी, सीधे छलांग लगाकर मंजिल तक पहुँचना चाहोगे तो हो सकता है ऐसे नीचे गिरो कि दुबारा मंजिल पर चलने का साहस ही न कर पाओ।

हमारा यही कहना है कि ये चार सोपान आत्मविश्वास, उद्यमशीलता, धैर्यशीलता और कृतज्ञता ये शब्द आप के मस्तिष्क में घूमते रहेंगे तो सभी विघ्न, प्रतिकूलतायें आपसे दूर रहेंगी, आप भी अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो सकेंगे। हम आपके प्रति भावना भाते हैं कि आप सभी अपने सम्यक् लक्ष्य तक पहुँचें, अपने उद्देश्य को प्राप्त करें, अपने सुमधुर फल को पायें अपने अभीष्ट फल को भोगें ऐसी मंगल भावना रखते हैं। इन्हीं शुभभावनाओं के साथ.....।।

।।श्री शांतिनाथ भगवान् की जय।।

।।जैनं जयतु शासनं–विश्वकल्याणकारकं।।

चिन्ता के कारण

महानुभाव! जीवन में व्यक्ति की जितनी कार्य करने की क्षमता है, अपने सम्यक् प्रयत्नों के माध्यम से अपनी कार्यक्षमता को बढ़ा भी सकता है तो अपने असफल प्रयासों के माध्यम से और व्यर्थ की चिन्ताओं के माध्यम से अपनी कार्यक्षमताओं को घटाया भी जा सकता है। प्रारंभ में सबकी कार्यक्षमता सामान्य होती है किन्तु सकारात्मक सोच के कारण, आनंद हर्ष व उल्लास के साथ व किन्हीं प्रेरक निमित्तों के बीच रहता हुआ व्यक्ति अपनी कार्यक्षमताओं को बढ़ा लेता है और अचिन्त्य उपलब्धि को, अचिन्त्य वस्तु के लाभ को प्राप्त करने में समर्थ होता है। दूसरी ओर उल्हाने, उपहास, व्यंग, प्रताड़ना, तिरस्कार, अपमान, उपेक्षावृत्ति को जब कोई व्यक्ति सहन करता चला जाता है तो उसकी कार्य क्षमता घटती चली जाती है। या कहें उसके मन में दुश्चिंताओं का भूत सवार हो जाता है।

महाभारत के युद्ध में अर्जुन की प्रशंसा करने वाले श्री कृष्ण जो एक–एक तीर छोड़ने पर कहते थे वाह! अर्जुन वाह! धन्य है तुझ जैसा धनुर्धारी पूरे विश्व में नहीं है धन्य है, तुम्हारी माँ कुन्ती, धन्य है तुम्हारे गुरु द्रोणाचार्य, धन्य है तुम्हारा अदम्य साहस, धन्य है तुम्हारी निःसंदेह देवों के द्वारा प्रदत्त यह सुकला धनुकला जो तुमने प्राप्त की। इन शब्दों को सुनकर अर्जुन का उत्साह और बढ़ जाता था वह शताधिक उत्साह के साथ अगला बाण छोड़ता। अपनी प्रशंसा सुनकर उसका उत्साह और बढ़ जाता। उत्साह आत्मीय शक्ति को विकसित करने की एक अच्छी विधि है। प्रेरणा और प्रशंसा व्यक्ति को कहीं का कहीं पहुँचा सकते हैं। दूसरी ओर भर्त्सना, उपेक्षावृत्ति व्यक्ति का कितना भी पतन कर सकती है। उधर दुर्योधन की भर्त्सना करने वाला

शकुनि जिसने बार–बार ये कहा धिक्कार है, तुझे कौन कहेगा राजपुत्र, कहाँ वाण चलाता है, अरे! तू कुछ नहीं जानता, इससे उसका उत्साह और भंग होता गया, और उसे युद्ध पूर्ण होने के पहले ही अपनी असफलता और पराजय के चिह्न दिखाई देने लगे।

दुःचिंता भी इसी प्रकार का घुन है जो व्यक्ति के व्यक्तिव को अंदर से खोखला कर देता है। संभव है मधुमेह का रोग शरीर को खोखला करे या न करे किन्तु दुःचिंता का रोग बड़े से बड़े पहलवान को भी भूमि पर गिरा देता है। दुःचिंताओं के रोग में जकड़ा हुआ व्यक्ति चाहे कितना भी शक्तिशाली हो एक दिन इतना निर्बल हो जाता है कि उससे अपना शरीर उठता नहीं है। दुःचिंतायें सबसे बड़ा रोग हैं। आपकी दृष्टि में और भी बहुत से रोग होंगे किन्तु दुःचिंता से बढ़कर के और कोई भी रोग नहीं है। इस चिंता के रोग ने एक साथ असंख्यात जीवों को बांध दिया, चिंता के रोग में जकड़ा व्यक्ति कितने भी वैद्य–हकीम की दवा खाये, कितना भी मंत्र–तंत्र का जाप लगाये, कितनी भी पूजन–हवन करे दुःचिंताओं का रोग छूटता नहीं है।

दुःचिंताओं के रोग से छूटने का एक ही उपाय है वह है **'तत्त्वबोध'** जिसके बिना दुःचिंता छूटती नहीं है। दुःचिंतायें व्यक्ति को प्रतिक्षण कमजोर बनाती जाती हैं इनके जाल में फँसा व्यक्ति प्रतिक्षण तड़प–तड़प कर मृत्यु के समीप पहुँच जाता है। दुःचिंता को वह दीमक कह सकते हैं जो वृक्ष में लग कर वृक्ष को धराशाही कर देती है, वृक्ष सूख जाता है। दुःचिंता को अनाज के अंदर घुसा घुन कह सकते हैं जो उस अनाज के दाने को अंदर से खोखला कर देती है ऊपर से केवल छिलका–छिलका रह जाता है। किन्तु महानुभाव! आपके मन में विचार आ रहा होगा कि दुःचिंतायें पैदा होती ही क्यों हैं, दुःचिंताओं का कारण क्या है?

दुःचिंताओं का कारण यूँ तो प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि में अलग–अलग है किन्तु हम समझते हैं दुःचिंताओं के चार कारण प्रमुख रूप से हैं। इसके अलावा आपकी दृष्टि में और भी हो सकते हैं। प्रथम कारण कह सकते हैं–**''लक्ष्यविहीन यात्रा''**। जिसने कोई भी कार्य करने के पहले अपना लक्ष्य नहीं बनाया ऐसा व्यक्ति संदिग्ध रहता है, मैं कहाँ पहुचूँगा, मार्ग कैसा होगा, कोई दुर्घटना घटित हो गयी तो? व्यापार करता है तो सोचता है कहीं घाटा लग गया तो? वस्तु के दाम जो मैं खरीद के लाया वे घट गये तो? यदि मैंने वस्तु पहले बेच दी बाद में दाम बढ़ गये तो? कहीं माल नष्ट हो गया तो? चोरी हो गया तो? और भी कई प्रकार की दुःचिंतायें रहती हैं। तो लक्ष्यविहीन, मात्र क्रिया करता जा रहा है, कोई उत्साह ही नहीं या उसके फल में विश्वास नहीं तो दुःचिंता तो उसे घेरेगी ही। जब भी कोई शिष्ट–सभ्य–प्रज्ञ व्यक्ति कार्य करता है तो सर्वप्रथम लक्ष्य निर्धारित करता है कि मुझे अमुक स्थान तक पहुँचना है या सफलता प्राप्त करनी है।

एक कुंभकार भी एक कुंभ का निर्माण करता है तो पहले मन में भाव कुंभ बनाता है। भवन बनाने वाला पहले अपने मन में भाव भवन बनाता है फिर कागज पर चित्र रूप में बनाता है, पुनः मॉडल बनवाता है फिर भवन बनाना शुरु करता है ऐसे ही जीवन में जब भी कोई कार्य करना हो तो अपने सामने जब लक्ष्य होता है तो कार्य में गति आती है और व्यक्ति चिन्तामुक्त होकर के चलता है। कुछ व्यक्ति तो फिजूल की चिन्ता करते हैं, जिस कार्य को कर नहीं पा रहे तब भी चिंता हो रही कि मैं इस कार्य को कर नहीं पा रहा, जिस कार्य को नहीं कर सकता तब भी चिंता कि मैं इस कार्य को नहीं कर सकता, अब इसमें चिंता करने की आवश्यकता ही क्या है, जो कार्य आप जीवन में कर ही नहीं सकते आपके मन ने कह दिया है तो चिंता क्यों करना?

छोड़ दो, जो कार्य तुम कर सकते हो तो भी चिंता क्यों करते हो, कर लो ना। दोनों अपेक्षाओं से चिंता करना उचित नहीं है।

दूसरा चिंता उत्पत्ति का कारण है– **''कर्तव्यों में शिथिलता''**– जब व्यक्ति अपने कर्तव्यों की चोरी करता है, कर्तव्यों में शिथिल होता है, आलसी–प्रमादी बन जाता है, दूसरों से अपेक्षा रखता है कि मेरे कार्य को सामने वाला करे तब व्यक्ति के मन में चिंता होती है मुझे ऐसा करना चाहिये था, मैंने ऐसा नहीं किया, कहीं ऐसा नहीं हो जाये, यदि ऐसा हो गया तो? आदि–आदि बातों को सोचकर व्यक्ति चिंतायुक्त हो जाता है। जब–जब भी व्यक्ति अपने कर्तव्य को छोड़ेगा, एकान्त में बैठेगा तब उसे याद आयेगा कि मैंने ऐसा किया नहीं था, उस समय मुझे ऐसा कार्य करना चाहिये था, उस समय मुझे वहाँ मौन रहना चाहिये था। अर्थात् जिस समय आपका जो कर्तव्य था, आपकी आत्मा जिसे जानती थी, आपकी आत्मा ने कहा भी कि ऐसा कर लो किन्तु किसी विकारी भाव ने कहा–तो कषाय के उद्रेक में आप वैसा कर नहीं पाये। आपने अपने कर्तव्य की चोरी की इसका परिणाम ये रहा कि आपकी निगाह नीची हुयी, आपके मन में चिंताओं ने घर बना लिया कि लोगों ने यदि मुझसे पूछ लिया तो मैं क्या कहूँगा–क्या जवाब दूँगा कि मैंने अपने कर्तव्य का पालन क्यों नहीं किया। जब मैं ही अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर सकता तो सामने वाले से मैं क्या अपेक्षा रख सकता हूँ कि वो भी अपने कर्तव्य का पालन करे। स्वयं कर्तव्य का पालन करके तो सामने वाले को कर्तव्य पालन की प्रेरणा दी जा सकती है किंतु स्वयं कर्तव्य की चोरी करके सामने वाले को कर्तव्य के प्रति प्रेरित नहीं किया जा सकता तो कर्तव्य का पालन नहीं करना यह चिंता का कारण है। व्यक्ति दिनों–दिनों तक महीनों–महीनों तक वर्षों तक सोचता है कि मैंने ऐसा नहीं किया

काश! मैंने ऐसा कर लिया होता, अब कहीं ऐसा तो नहीं कि मेरी बात किसी को ज्ञात हो गयी हो कि मैंने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया। कोई क्या कहेगा, किसी ने सबके सामने मेरे बारे में कह दिया तो? यह सब सोच–सोचकर उसका चेहरा उतरा रहता है। चेहरे पर उत्साह उमंग–आनंद दिखाई नहीं देता, चेहरा चिंता के कारण सूख जाता है, श्याम पड़ जाता है, फक्क पड़ जाता है व्यक्ति चिंताओं से अंदर ही अंदर सूखता चला जाता है जैसे दीमक लग जाने से वृक्ष सूखता है, जैसे सूर्य के तेज प्रताप से जलाशय का जल सूखता है तो महानुभाव हमें अपने कर्तव्य का पालन पूरी ईमानदारी के साथ समय पर कर लेना चाहिए यही चिंताओं से मुक्त रहने का उपाय है।

तीसरा कारण है चिंताओं का **''अनधिकारी चेष्टा''**। जब–जब व्यक्ति अनधिकारी चेष्टा करता है तब–तब व्यक्ति स्वयं किसी आकस्मिक संकट में फँस जाता है। अनधिकारी चेष्टा अनर्थों के गर्त में पटकने वाली होती है, अनधिकारी चेष्टा का आशय है कि एक जीर्ण–शीर्ण पुल जिस पर पैर रखते ही व्यक्ति गिर जाये फिर भी किसी कषाय के आवेश में हम उस पुल पर चढ़ गए और अनधिकारी चेष्टा रूपी पुल से गिर जाना स्वयं के लिये ही दुःखों को आमंत्रण देना है। जीवन में सुख और शांति, चिंताविहीन जीवन तब ही बनता है जब हम अपने अधिकारों को समझकर ही प्रवृत्ति करें। जो कार्य हमारे अधिकार क्षेत्र के बाहर है उसमें हम प्रवेश न करें, इसमें ही हमारी गरिमा है, शोभा है, महिमा है, प्रतिष्ठा है। जिस व्यक्ति ने भी अनधिकारी चेष्टा की है उसके नयन अधोगति को प्राप्त होते हैं। सामने वाले के समक्ष स्वयं तिल–तुष के समान हो जाता है तृण वा रज के समान हो जाता है। सामने वाला व्यक्ति उससे कितना ही लघु क्यों न हो किंतु अनधिकारी चेष्टा करने पर वह उसके सामने आँख उठाने

में समर्थ नहीं हो पाता, उसके नयन इतने भारी हो जाते हैं जैसे मानो उस पर टनों या मनों वजन रख दिया हो।

जिस व्यक्ति ने अनधिकारी चेष्टा की नहीं, कर्तव्य में हीनता नहीं रखी वह व्यक्ति सीना तान करके, सामने वाले की आँख में आँख डाल कर किसी भी बात का जवाब दे सकता है किन्तु जिसने अनधिकारी चेष्टा की है वह सोचता है मुझे ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये, यह कार्य करने का, यह शब्द कहने का मुझे अधिकार नहीं था मैंने ऐसा बोल दिया मैंने अनधिकारी चेष्टा की इसका दण्ड मुझे भोगना पड़ेगा, इसका हर्जाना मुझे चुकाना पड़ेगा। अनधिकारी चेष्टा करके मैंने नया जोखिम ले लिया, मैं जोश में आकर भूल तो गया, जोश में होश खो बैठा और अब इसका दुष्परिणाम मुझे ही भोगना पड़ेगा। उसकी आत्मा घबराती है कोई उससे प्रश्न कर ले तो उसके शब्द लड़खड़ाने लगते हैं, अनधिकारी चेष्टा करने वाला व्यक्ति स्वयं ही स्वयं को दोषी होने का प्रमाण दे देता है।

चतुर्थ कारण है चिंताओं का– **''पर्याप्त साधनों के अभाव का अनुभव''**–जब कोई भी व्यक्ति किसी भी मार्ग पर चलना चाहता है, किसी भी कार्य को सम्पन्न करना चाहता है और वह ऐसा मन में मान कर बैठ जाये कि यह कार्य तो मैं कर नहीं सकता मेरे पास पर्याप्त साधन नहीं हैं। नहीं हैं ये हो सकता है किन्तु उसके अनुभव में आ जाये, उसकी धारणा में आ जाये कि पर्याप्त साधन नहीं हैं अब मैं कैसे कार्य करूँगा, तो उसको प्राप्त करने के लिये चिंतातुर हो जायेगा। कैसे मिले वह साधन सामग्री, कैसे साधन जुटाऊँ, क्या करुँ बस उसी की उधेड़–बुन में लग जायेगा। जिसका चित्त व्याकुल हो गया है वह व्यक्ति कभी चिंता मुक्त नहीं हो पायेगा। वह सदैव उनमें उलझा रहता है कदाचित् एक साधन प्राप्त कर भी लिया और उसे लगा नहीं इससे कार्य

नहीं हो पायेगा तो दूसरे साधन की चिंता, वह प्राप्त हो जाये तो तीसरे साधन की चिंता पुनः अगले–अगले साधन की चिंतायें बढ़ने लगती हैं। साधनों को प्राप्त करने पर भी चिंतायें दूर नहीं होती व्यक्ति चिंता मुक्त नहीं हो पाता।

महानुभाव! चिंता इस शरीर का सबसे बड़ा दुश्मन है, चिंता सुख–शांति और आनंद को जलाने वाली अग्नि है, चिंता पुण्य को पाप में बदलने वाला रसायन है, चिंता वह पिशाचिनी है जो व्यक्ति के चित्त में बैठकर उसे उत्पीड़न, बेचैनी, देने वाली है। चिंता की पिशाची जिसके चित्त पर बैठ गयी समझो वह व्यक्ति तो जीते जी मर गया। उसके पास चाहे सब कुछ हो किंतु निश्चिंत्ता नहीं है तो कुछ भी नहीं है। इसलिये चिंता को मृत्यु के समान कहा। चिता तो मुर्दा को जलाती है किंतु चिंता जीते जी जलाती है। कहा भी है–

चिन्ता चिता समाख्याता बिंदुमात्रविशेषता।
चिता दहति निर्जीवं चिन्ता जीवं दहत्यहो।।

चिंता और चिता समान कही गई हैं। दोनों में बिन्दु मात्र की विशेषता है। परन्तु चिता प्राण रहित अर्थात् मृत मनुष्य को जलाती है और चिन्ता सजीव मनुष्य को जलाती है।

चिंता और चिता में बिंदु का अंतर है। बिंदु आते ही वह इतनी जबरदस्त हो जाती है कि चिंता उस बिंदु रूपी सुख को नष्ट कर देती है। सुख को दुख में बदल देती है, सुंदर शरीर को भी कंकाल बना देती है, व्यक्ति के क्षयोपशम को खा जाती है, प्रतिष्ठा को नष्ट कर देती है और अंतरंग में उमंग–उल्लास–हर्ष आदि शब्द तो केवल कागजों पर लिखे रह जाते हैं उसके जीवन में नहीं आते। उसका जीवन सूखे सेंठा के समान हो जाता जो दिखाई तो दे रहा है किन्तु पकने पर उसमें रस नहीं मिलेगा,

उसका जीवन प्लास्टिक के फूल की तरह से होता है जो फूल दिखाई तो दे रहा है पर जीवन में सुगंध नहीं है, उसका जीवन मिट्टी से बने पकवानों व मिष्ठानों की तरह से है जो दिखाई तो दे रहे हैं पर उनमें मिठास नहीं है, उसका जीवन कागज पर लिखे रिश्तों की तरह से है जो रिश्ते कागजों के चित्रों में दिखाई तो दे रहे हैं किन्तु वास्तव में उनमें प्रेम संबंध नहीं है। ऐसे ही चिंतातुर व्यक्ति अपनी श्वॉस तो पूरी करता है किन्तु वास्तव में जीवंत जीवन का आनंद नहीं ले पाता।

आप अपना जीवन चिंतामुक्त बनाओ। चिंतायुक्त तो अनंत जीवन निकल गये। चिंतामुक्त जीवन बनायें।

चिंता बध्यउ सयल जगत्, चिंता किणहु न बद्ध।
जे नर चिंता बस करहिं, ते माणव नहिं सिद्ध।।

आपसे यही संकेत है कि चिंता युक्त सौ वर्ष का जीवन व्यर्थ है चिंता मुक्त एक मुहूर्त प्रमाण का जीवन भी आपके पूरे जीवन को सार्थकता प्रदान कर सकता है। इसलिये आप सभी निश्चिंत जीयें, जीवन में आकस्मिक किसी भी दुर्घटना, संदेह, दुःख की कल्पना करके चिंतातुर न हों, अपने जीवन को वरदान स्वरूप बनायें, अभिशाप स्वरूप नहीं। आपका जीवन पावन बने, मंगलमय बने, दूसरों के लिये प्रेरणादायी बने ऐसी मंगलभावना आपके प्रति भाते हैं। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ.....।।

।।श्री शांतिनाथ भगवान् की जय।।
।।जैनं जयतु शासनं–विश्वकल्याणकारकं।।

''सनातन शुद्धि''

महानुभाव! जीवन में पवित्रता का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। पवित्रता हर स्थान पर अपना विशेष महत्व रखती है। पवित्रता पवित्र व्यक्तियों को प्रिय है। पवित्रता महानता का कारण है। पवित्रता श्रेष्ठता का प्राण है, पवित्रता आत्म विशुद्धि का हेतु है। इसलिये संसार के जो पवित्र हृदय वाले मनुष्य हैं, वे जीवन में पवित्रता को स्वीकार करते हैं। सामान्य मनुष्य भी गंदगी, मलिनता, अशुद्धि को स्वीकार नहीं करना चाहते, क्यों? क्योंकि पवित्रता हमारी आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव सुख का कारण होता है, स्वभाव शाश्वत गुणों को प्रकट करने में समर्थ होता है, स्वभाव प्रत्येक जीव की नियति है, प्रकृति है इसीलिये जैसे जानना और देखना स्वभाव है, ऊर्ध्वगमन स्वभाव है, चैतन्यता स्वभाव है ऐसे ही पवित्रता भी आत्मा का स्वभाव है।

संसार का कोई भी व्यक्ति मलकूप में पड़ना नहीं चाहता। यदि शरीर में कहीं गंदगी लगी हो वह उसे प्रक्षालित करना चाहता है। मलिन वस्त्र भी टंगे हैं और शुद्ध व स्वच्छ भी टंगे हैं तो व्यक्ति गंदे वस्त्र नहीं पहनना चाहता, स्वच्छ वस्त्र पहनना चाहता है। वस्त्र वही हैं पूजन और अभिषेक के, एक थोड़ा पुराना है ऐसा लग रहा है जैसे गंदा हो और दूसरे धुले शुद्ध स्वच्छ हैं व्यक्ति स्वच्छ कपड़े पहनना चाहता है। यहाँ तक कि आपकी जेब में यदि दो नोट हैं 2000 के। एक नोट किसी व्यापारी के पास से आया था, वह दुकानदार उस नोट को हाथ में रखे रहा जिससे वह नोट चिकना हो गया, दूसरा नोट अभी बैंक से आया था किसी व्यक्ति ने उसे दिया था, उसकी जेब में दोनों नोट हैं। जब वह किसी व्यक्ति को 2000 का नोट देना चाहता है तो पहले गंदे वाले नोट को क्यों देता है? जबकि दोनों का मूल्य एक

बराबर है, स्वच्छ वाले नोट को अपने पास क्यों रखना चाहता है? सिद्ध होता है कि अनादिकाल से हमारी आत्मा का स्वभाव स्वच्छता को प्राप्त करना है।

प्रत्येक प्राणी स्वच्छता का प्रेमी है, कुछ लोग गंदगी में जीते हैं और वे गंदगी में जीते–जीते गंदगी के आदी हो जाते हैं। किंतु गंदगी उनका भी स्वभाव नहीं है चाहे गंदगी मकान में हो, कुशल गृहिणी गंदगी को निकाल करके बाहर फेंक देती हैं। घर में काम करने वाली बाई आये, थोड़ा भी कूड़ा–कचरा रह जाये तो उसको डाँटने लगते हैं, गंदगी रही कैसे? वस्त्र साफ करने वाला धोबी यदि किंचित् प्रमाद करके वस्त्र को साफ नहीं कर पाता है, तो उससे डांटकर के पुनः वस्त्र धुलवाते हैं क्योंकि गंदगी पसंद नहीं है।

यदि सिर पर दो तिनके उड़ते हुये आ जायें और दर्पण में आप देख रहे हों तो सिर के वो दो तिनके सहन नहीं होते आप तुरंत उठा करके उन्हें अलग कर देते हैं, चेहरे पर यदि कहीं श्याम धब्बा लगा हो, दर्पण में जब तक नहीं देखा तब तक वह गंदगी मंजूर थी, दर्पण देखते ही तुरंत कपड़ा लेकर उस श्याम धब्बे को साफ करते हैं। हाथ यदि गंदे हैं तुरंत ही हाथों को साफ करते हैं, पैर यदि गंदे हैं तो साफ करते हैं इतना ही नहीं गंदे न हों सुरक्षा रहे अतः जुराब पहनते हैं जूते भी पहनते हैं गंदगी लग न जाये। यहाँ तक कि रात्रि में सोने से पूर्व भी हाथ–पैर–मुख का प्रक्षालन करके सोते हैं क्योंकि हाथ–पैर में यदि मलिनता है तो दुःस्वप्न आते हैं, मुख में मलिनता है तो भयंकर स्वप्न आते हैं और इतना ही नहीं पादतल, करतल और मुख पर विद्यमान गंदगी विकारों को जन्म देती है, दुष्कृत की प्रेरक निमित्त बनती है इसलिये हस्त, पद, मुख प्रक्षालन करते हैं।

शरीर पर कहीं पसीना आ जाये और धूल के कण चिपक जायें तो शरीर का भी प्रक्षालन करते हैं। गंदगी पसंद नहीं है शरीर के किसी भी अंग में, गंदगी पसंद नहीं है भोजन सामग्री में, गंदगी पसंद नहीं है कर्णगोचर होने वाले शब्दों में, गंदगी पसंद नहीं है नेत्रों से देखे जाने वाले दृश्यों में, गंदगी पसंद नहीं है नासिका के माध्यम से सूंघने युक्त पदार्थों में, गंदगी पसंद नहीं हैं जहाँ पर आप शयन करते हैं, इतना ही नहीं व्यक्ति मल का त्याग करने के लिये जहाँ जाता है, दीर्घशंका व लघुशंका के लिये तब भी स्थान का चयन करता है कि कहीं गंदा स्थान तो नहीं है। ऐसी बातों से सिद्ध होता है कि मलिनता हमारा स्वभाव नहीं, हमारा स्वभाव पवित्रता है, हमारा स्वभाव शुद्धि है और वह शुद्धि कैसे प्राप्त हो? हम ये सब शुद्धियाँ तो देख लेते हैं किन्तु हमें तो अपनी आत्मा को शुद्ध करना है, आत्मा शुद्ध कैसे हो? आचार्यों ने लिखा–

'सकल कर्म क्षयार्थ आत्म शुद्धि भवेत्'

सभी कर्मों के क्षय होने से आत्मा की शुद्धि होती है। बिना कर्मों का क्षय आत्म शुद्धि नहीं होती। जैसे स्वर्ण की शुद्धि अग्नि में तपाकर की जाती है, बर्तनों की शुद्धि भस्म से मांजकर की जाती है, आभूषणों की शुद्धि तेजाब आदि से की जाती है, मूर्ति आदि की शुद्धि रीठा आदि से की जाती है, कई ग्रामीण महिलायें अपने पैर आदि साफ करती हैं तो पत्थर की पथरिया लेकर के साफ करती हैं, कुछ लोग पुराने बर्तनों को साफ करते हैं तो तुम्बी का जूना बनाकर के साफ करते हैं। दीवारों को साफ करते हैं तो खरोंच कर साफ करते हैं गंदगी न हो।

बाहर की गंदगी जब तुम्हें पसंद नहीं है तो चित्त में अनादि काल से विद्यमान गंदगी के प्रति ख्याल क्यों नहीं है। बाहर

गंदगी दिखते ही दूर होने का, करने का प्रयास होता है किंतु अंतरंग की गंदगी साफ करने का भाव मन में क्यों नहीं आता? गंदगी स्वभाव नहीं है अंतरंग में नहीं है तो बहिरंग में भी नहीं है। बाहर की शुद्धि तो करते हैं चाहे मकान है या दुकान, चाहे फैक्ट्री है या गोदाम, स्कूल है या कॉलेज कोई भी स्थान है नित्यपूर्ण सफाई न की जा सके तो 15 दिन में या 1 महीने में तो सफाई करवाते ही हैं। तब भी न हो तो वर्ष में एक बार सफाई तो अवश्य कर ही लेते हैं। अपने चित्त को साफ करने का ख्याल क्यों नहीं आता? मेरे चित्त में विद्यमान ये गंदगी साफ कैसे हो? दीपक की ज्योति पर जब कालिमा आ जाती है, तो वह ज्योति को मंद कर देती है प्रकाश के प्रेमी ज्योति को निर्मल बनाने के लिये उस कालिमा को अलग कर देते हैं। जब दीपक की कालिमा पसंद नही उसे अलग कर देते हैं, तो चित्त में कालिमा पसंद क्यों है? चित्त की कालिमा को दूर क्यों नहीं किया जाता। वह भी दूर करना ही चाहिये।

मकान की दीवारें यदि ऊबड़–खाबड़ हों, मकान की दीवारों में कोई ईंट एक इंच–दो इंच बाहर निकल रही हो तो मकान कितना भी बड़ा हो, रहने में मन नहीं लगता कुछ नहीं तो कम से कम प्लास्टर तो हो ही जाये, इतना सीमेंट लगा दो की समान हो जाये। रहने वाली भूमि यदि ऊबड़–खाबड़ है, कंकड–पत्थर पड़े हैं ठीक नहीं लगता उसमें सीमेंट का फर्श कराओ, टाईल्स लगाओ, अच्छा पत्थर लगाओ जिससे गंदगी कम से कम रहे। जैसे मकान में गंदगी कम से कम रहे इसलिये मकान में टाईल्स, पत्थर आदि लगाते हैं, दीवारों पर पेन्ट कराते हैं, ऐसे ही मानव को अपने चित्त को शुद्ध करने के लिये व्रतों की टाईल्स लगानी चाहिये अपने चित्त में, पाषाण लगाने चाहिये समितियों के, पेन्ट करना चाहिये गुप्तियों का, दस धर्म का नित्य–नित्य

पोंछा लगाओ, बारह भावनाओं की झाड़ू लगाओ, तब तो ये चित्त निर्मल हो सकता है अन्यथा इस चित्त रुपी भवन को यूँ ही ताला लगाकर छोड़ दिया बाद में कभी आकर के देखोगे तो ढेर सारी गंदगी दिखाई देगी।

परम आवश्यक है शुद्धि वह शुद्धि लोक व्यवहार में विधेय है, आचार्य भगवन् कुलभद्र स्वामी जी ने शुद्धि के संबंध में सार समुच्चय ग्रंथ में लिखा है

सत्येन शुद्धयते वाणी, मनो ज्ञानेन शुद्धयते।
गुरु सुश्रूषयाकायः शुद्धिरेष सनातनः।।317।।

'सत्येन शुद्धयते वाणी'–वचन की शुद्धि कैसे होती है? जैसे वस्त्र को शुद्ध करने के लिये साबुन–सोड़ा का प्रयोग करते हैं, जैसे पानी में कीचड़ हो तो फिटकरी का प्रयोग करते हैं जिससे गंदगी नीचे बैठ जाती है। जैसे कोई बर्तन गंदगी में गिर जाये तो उसे अग्नि से पक्व कर शुद्ध करते हैं, शरीर अशुद्ध हो जाये तो स्नान करते हो, तो वाणी को शुद्ध कैसे किया जाये? जल को शुद्ध करने के लिये उसे छन्ने से छानते हैं, उसे गर्म कर प्रासुक करते हो, व्यक्ति कोई असोला वाला हो जाये तो पुनः स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर सोला का होता है तो वाणी की शुद्धि के लिये बताया कि सत्य के छन्ने से छनी हुयी वाणी शुद्ध होती है। यदि सत्य के छन्ने में वाणी छन कर नहीं आयी तो उसमें कचरा भी हो सकता है उसमें मलिनता हो सकती है सत्य का छन्ना आगम के किनारों से युक्त होता है। छन्नी होती है उसमें चारों तरफ बाउण्ड्री होती है, बाद में जाली होती है तो आगम की बाउण्ड्री में सत्य की जाली लगाओ, उसमें से छन–छन कर जो शब्द वर्गणायें आयें जो ध्वनि–वचन आयें उनका ही प्रयोग करो तब ही आपके श्री मुख से सत्य वचन निःसृत होंगे। और सत्यवचन बड़े प्रभावी होते हैं। एक सत्य वचन का इतना प्रभाव

हो सकता है कि हजार असत्य का इतना प्रभाव न हो पाये। तो महानुभाव! वाणी की शुद्धि सत्य के माध्यम से होती है।

''मनो ज्ञानेन शुद्धयते मन की शुद्धि ज्ञान के द्वारा होती है।

ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि, भस्मसात् कुरुते क्षणात्।

ज्ञान रुपी अग्नि जितने भी विकारी भाव हैं, जितने भी पाप कर्म हैं, कल्मष हैं उन सबको ध्वस्त कर देती है। ज्ञान के माध्यम से मन की शुद्धि होती है। मनोविकार क्या हैं? क्रोध का आवेग, अहंकार का आवेग, छल–कपट–मायाचारी का आवेग, लोभ का आवेग ये सभी मन के विकार हैं। आसक्ति, वैर–कलह–भाव, विद्वेष–भाव, राग भाव, घृणा का भाव, ईर्ष्या का भाव, उपेक्षा का भाव ये सब मन के विकार हैं। सत् के प्रति अनिष्ठा का भाव, असत् के प्रति निष्ठा का भाव, इच्छायें ये सभी मन के विकार यदि प्रक्षालित होते हैं तो ज्ञान के माध्यम से होते हैं। ज्ञान की निर्मलधारा जब अंदर से फूट पड़ती है, तब किंचित् भी रज टिक नहीं पाती। पर्वत में से निकलने वाला झरना जहाँ पर गिरता है उस स्थान पर कहीं मिट्टी धूल टिक पाती है क्या? नहीं। इसी तरह चित्त की निर्मलता से, कषायों के शांत होने से मन में जो गंदगी थी वह ज्ञान का चिंतन करने से धुलती चली जाती है।

मनोविकारों को दूर करने का, शांत करने का एक ही उपाय था, उपाय है और उपाय रहेगा वह है ज्ञान का निर्झर जिससे मन को शुद्ध किया जाता है। कोई व्यक्ति दुःखी हो उसे कोई ज्ञानी व्यक्ति आकर समझा दे, तो वह समझाने से समझ जायेगा। तो मन शुद्ध होता है ज्ञान के माध्यम से।

शरीर की शुद्धि स्नान से नहीं, वरन् यथार्थ रुप से शरीर की शुद्धि 'गुरु सुश्रूषया' गुरु की सेवा करने से होती है। गुरु सेवा से शरीर निरोग होता है, सुंदर होता है, वज्रवृषभ

नाराच संहनन प्राप्त होता है, कामदेव जैसे रुप की प्राप्ति होती है, ऐसे शरीर की प्राप्ति जिससे मोक्ष भी प्राप्त किया जा सके। आचार्य कुलभद्र स्वामी कह रहे हैं **'शुद्धि एषः सनातनः'** हे भव्य प्राणियों यह शुद्धि की सनातन अनादि निधन परम्परा है। इसके अनुसार ही वाणी मन, तन को शुद्ध करने का सम्यक् पुरुषार्थ करो। तभी आत्मा को शुद्ध करने में सक्षम हो सकोगे। तभी आत्मा शुद्ध हो सकेगी।

आप सभी मन–वचन–काय को शुद्ध करते हुये अपनी आत्मा को शुद्ध करने में समर्थ हों, ऐसी आप लोगों के प्रति मंगल भावना रखते हैं। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ.....।।

।।श्री शांतिनाथ भगवान् की जय।।

।।जैनं जयतु शासनं–विश्वकल्याणकारकं।।

कैसे वचन बोलें

महानुभाव! संसारी प्राणियों में ऐसे प्राणी बहुत कम हैं जिन्हें बोलने की शक्ति प्राप्त हुयी है। अनंतानंत एकेन्द्रिय जीव हैं जिनके पास बोलने की शक्ति नहीं है पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। त्रस जीवों के पास बोलने की शक्ति तो है परंतु क्या बोलना चाहिये यह सोचने की शक्ति नहीं है। दो इन्द्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय इनके पास रसना इन्द्रिय भी है, रस भी ले सकते हैं और बोल भी सकते हैं किन्तु समझने की शक्ति और क्या बोलना चाहिये यह शक्ति इन जीवों के पास नहीं है।

संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव उनके पास मन होने से सोचने और समझने की शक्ति है। वे शिक्षा, उपदेश, आलाप, निर्देश, संकेत आदि को ग्रहण कर सकते हैं और दूसरों को शिक्षा, उपदेश, आदेश, निर्देश, आलाप आदि दे भी सकते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय का बोलना सार्थक भी हो सकता है स्वयं के लिये भी और दूसरों के लिये भी। बोलना तो बहुत से लोग जानते हैं किंतु यह बहुत कम ही लोग जान पाते हैं कि उसे क्या बोलना चाहिये, कब बोलना चाहिये, कितना बोलना चाहिये और क्यों बोलना चाहिये। जिस व्यक्ति के पास ये समझ है कि मुझे कब और कितना बोलना है, कहाँ और किसे बोलना है तो उसका बोलना सफल और सार्थक हो जाता है। जिस व्यक्ति के पास ये समझ नहीं है वह सुबह से लेकर शाम तक जब तक जिह्वा न थके तब तक बोलता रहे तब भी उससे उसका जीवन सार्थक नहीं होता। बोलने में वचनों को नहीं तोला तो बोलना हानिकारक होता है।

विवेकी व्यक्ति वे होते हैं जो बोलने से पहले सोचते हैं, अविवेकी वे होते हैं जो बोलने के बाद सोचते हैं। बोलने के

बाद सोचना पश्चाताप का कारण होता है और बोलने से पहले सोचना विवेक और बुद्धि का परिचय है। जब व्यक्ति को कोई वस्तु खरीदनी होती है तो दुकानदार को कुछ मूल्य लेकर वस्तु खरीद लेता है, यदि सौ रुपये की वस्तु है तो 90 रु. में खरीदना चाहता है या इससे और कम में मिल जाये, किन्तु जब दुकानदार नहीं मानता है 100 रु. में ही लेनी पड़ती है। किंतु वह ग्राहक 100 रु. की वस्तु को 110 रु. मूल्य न देगा। दुकानदार कहे कि वस्तु तो 100 रु. की है पर तुम्हें जो देना है सो दे दो तो कहेगा ठीक है वह मुझे 90 रु. की दे दो या 60–70 में दे दो। दुकानदार बोला नहीं, ज्यादा दे सकते हो कम नहीं दे सकते हो। ज्यादा तुम देना चाहो तो 100 रु. की वस्तु के 200 रु. भी दे सकते हो मैं ले लूँगा 500 भी ले लूँगा, तो ग्राहक क्या करेगा? 100 रु. की वस्तु का मूल्य ज्यादा नहीं देगा। 100 रु. देने में भी उसे ऐसा लगेगा की कम दूँ।

जब व्यक्ति 100 रु. के मूल्य वाली वस्तु का 101 रु. भी देना नहीं चाहता, उसका प्रयास रहता है कि मुझे कम से कम मूल्य में यह वस्तु मिल जाये, अच्छी से अच्छी वस्तु मिले और कम से कम पैसे देकर मिले और नहीं तो जो उसका मूल्य पहले से fix किया है वही मूल्य देकर वस्तु लेता है ज्यादा नहीं। तब व्यक्ति जितने शब्दों से काम चल जाता है उतने शब्दों को क्यों नहीं बोलता। यदि कहीं चार शब्दों से काम चलता है तो आठ शब्द सुनाने की कोशिश क्यों करता है, जैसी मितव्यता धन व्यय करने के संबंध में रखते हैं वैसी मितव्यता यदि वचनों को व्यय करने में रखी जाये तब हम समझते हैं जीवन में से कम से कम 90-95-98% दुःख अशांति–कलह के निमित्त दूर हो सकते हैं।

अधिक बोलना स्वयं को संकट में डालना है। अधिक बोलने वाला व्यक्ति मिथ्याभाषी होता है, अधिक बोलने वाला व्यक्ति

अपने जाल में फँस जाता है, अधिक बोलने वाला व्यक्ति नदी किनारे दौड़ तो लगाता है किंतु जल्दी पहुँचने के कारण दलदल में फँस जाता है। अधिक बोलने वाला व्यक्ति छलांग तो लगाता है किंतु वह छलांग अपनी शक्ति को देखे बिना लगाता है जहाँ पहुँचना चाहिये वहाँ न पहुँचकर के नीचे गिर जाता है। बंदर यदि छलांग लगाते समय अपने नियत स्थान पर न पहुँचे तो लौटकर अपने ही स्थान पर आ जाता है किन्तु मनुष्य नहीं।

मनुष्य जब अपनी प्रशंसा करने बैठता है तो उसके शब्दकोष में शब्द कम पड़ जाते हैं। जितने शब्द कहना चाहे उतने कहता है सुनने वाला अपने कान बंद कर लेता है भैया! अब बस करो, बहुत हो गया। यदि कहने वाला व्यक्ति सामने वाली की निंदा करने लग जाये तो शब्द कम पड़ जाते हैं, समय कम पड़ जाता है, सुनने वाला कहता है भैया कम करो अब बहुत हो गया। परंतु सुनाने वाला व्यक्ति दूसरे का कान पकड़ कर सुनाता है। आओ तुम्हें अच्छी बात बताता हूँ, सुनने वाला कहेगा आज तो भूल से आ गया, आगे से ध्यान रखूँगा। अपनी बात सुनाने के लिये दूसरों के कान मत पकड़ो, क्योंकि उसके दो कान पकड़ने पड़ेंगे अपनी एक जिह्वा को पकड़ लो जो ज्यादा बोलने के लिये आतुर हो रही है।

"पानी मर्यादा तोड़े तो विनाश और वाणी मर्यादा तोड़े तो सर्वानाश"

महानुभाव! बोलो, किन्तु उतना ही बोलो जितना आवश्यक है। औषधि की तरह शब्द हों, प्राणवायु की तरह शब्द हों, भोजन की तरह से सुपाच्य हों, शब्द ऐसे हों जो बोलने वाले के व्यक्तिव को ऊँचाई दे सकें, शब्द ऐसे हों जो सुनने वाले के लिये सुख और शांति की क्षणभर की अनुभूति दे सकें। शब्द ऐसे हों जिसे सुनने वाला प्यासा चातक की तरह से सुनने के लिये आतुर रहे, शब्द ऐसे हों जिसे सुनकर अंदर का अंधकार दूर होने लगे, शब्द

ऐसे हों कि रोता हुआ व्यक्ति मुस्कुरा जाये, शब्द ऐसे हों जिससे उसके पाप धुल जायें, शब्द ऐसे हों जो ग्रीष्मकाल में संतप्त शिला सम हृदय को शांति देने में समर्थ हों। शब्द ऐसे हों जो किसी के निराशा भरे जीवन में आशा देने वाले हों, शब्द ऐसे हों मृत प्रायः जिंदगी को जीवंत्ता प्रदान कर सकें। उन शब्दों की ही जीवन में सार्थकता है। **''सबसे प्यारी आपकी वाणी है–चाहे तो मन जीत ले चाहे तो मन चीर दें''** आचार्य कुलभद्र स्वामी जी ने सारसमुच्चय ग्रंथ में लिखा है कि शब्द कैसे बोलने चाहिये।

निरवद्यं वदेद्वाक्यं, मधुरं हितमर्थवत्।
प्राणिनां चेतसोऽल्हादि, मिथ्यावादबहिष्कृमत् ।।320।।

आचार्य महोदय कह रह है निरवद्यं–वद्य अर्थात् पाप। जो भी शब्द आपके श्री मुख से निकलें वे पाप से रहित हों। हिंसाकारक न हों, उन शब्दों में मिथ्याआलाप न हो, उन वचनों में चोरी का भाव न हो वे वचन कहीं से चुराये हुये न हों, वे वचन किसी को चोर बनाने वाले न हों, चोरी रूपी पाप की पुष्टि करने वाले न हों, वे वचन चोर को छिपाने वाले न हों, वे वचन स्वयं को आचार्य से डिगाने वाले न हों, वे वचन पाप में संलिप्त करने वाले विषयों में रमाने वाले न हों, परस्त्रीगमन, वेश्यावृत्ति या अन्य अश्लील चेष्टायें सिखाने वाले न हों। उन वचनों के माध्यम से मन भोगो में सने नहीं, उन वचनों के माध्यम से मन बागी बने नहीं, मन विकृत न हो, कषायें जाग्रत न हों।

जिन वचनों को सुनकर क्रोध आये, ऐसे वचन मत बोलो, वचन सुनकर मान आ जाये अथवा वचन सुनकर कोई दीनता दिखाने लगे, कोई दीन–हीन समझे ऐसे वचन मत बोलो। वचन सुनकर मायाचारी–छलकपट का भाव आये ऐसे वचन भी मत बोलो। वचन सुनकर के लोभ कषाय जाग्रत हो, लोभ की अग्नि

उद्दीप्त होती है ऐसे वचन मत बोलो, ऐसे वचनों को मत बोलो जिन्हें सुनकर व्यक्ति पाप के गर्त में डूबा रहे, भोगों में मस्त पड़ा रहे, निंदा रस का पान करता रहे। ऐसे वचन मत बोलो जिन्हें सुनकर किसी का धर्म ध्यान ही नश जाये, किसी का पुण्य कार्य छूट जाये। सुकृत करना, परोपकार करना कोई छोड़ दे ऐसे वचन मत बोलो ये सब वचन सावद्य कहलाते हैं। इसीलिये **''निरवद्यं वदेत् वाक्यं''** सदैव निरवद्य वाक्य बोलने चाहिये। वद्य वाक्य, पाप युक्त वचन नहीं बोलने चाहिये कर्कश–कटु–कड़वे जो किसी को मिर्ची की तरह चुभ जायें ऐसे तीक्ष्ण, तीखे–दाहक वचन न बोलें।

'मधुरं हितमर्थवत्' वचन मधुर बोलो–मीठे बोलो। क्या जाता है मीठे वचन बोलने में, मीठे वचन आपको भी अच्छे लगते हैं और दूसरों को भी अच्छे लगते हैं।

प्रिय वाक्य प्रदानेन, सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात्तदेव वक्तव्यं, किं वाक्येऽपि दरिद्रता?।।

प्रिय वचन बोलने से सभी प्राणियों को संतोष मिलता है, सभी आनंद को प्राप्त करते हैं इसीलिये प्रिय वाक्य ही बोलना चाहिये, वचनों में कैसी दरिद्रता? यदि तुम किस भिखारी को 2 रु. का दान नहीं दे सकते तो कोई बात नहीं किन्तु दो मीठे वचन तो बोल ही सकते हो। मीठे वचन तो अपने मित्र के लिये नहीं अपने शत्रु के लिये भी बोल सकते हो वचनों में कभी दरिद्र मत बनो। आपका शब्द कोष खाली नहीं हो जायेगा यदि मीठे–मीठे वचनों का प्रयोग करोगे तो। कई स्थान ऐसे हैं जैसे म्लेच्छखण्ड या पाप स्थान जहाँ व्यक्ति अपने परिवार में भी कटु वचन बोलते हैं, गाली देकर बात करते हैं, अपशब्दों का व्यवहार होता है, दूसरों का अपमान–तिरस्कार करना अलंकार माने जाते हैं। जिस

गृह में ऐसे वचनों का प्रयोग हो उस घर से लक्ष्मी रूठकर चली जाती है। उस घर में सुख–शांति टिक नहीं पाती है। इसीलिये मधुर वचन बोलो।

मीठे वचन बोलते–बोलते भी पुण्य का आश्रव होता है सुनने वाले को भी और सुनाने वाले को भी। आगे कह रहे हैं वचन तो बोलिये किंतु हितकारी बोलिये। यदि अहितकारी वचन हैं, जिन वचनों को सुनकर के किसी का अकल्याण हो जाए, जिन वचनों को सुनकर–बोलकर आपका भी अकल्याण होता है उन वचनों को कभी न बोलो। हितकारी बोलो, सीमित बोलो, प्रिय बोलो और सबसे महत्वपूर्ण बात कही कि 'अर्थवत्' बोलो। वे वचन जीवन को सार्थक करने वाले हों।

आचार्य महोदय कह रहे हैं–''प्राणिनां चेतसोऽल्हादि'' जो प्राणियों के चित्त को आह्लादित करने वाले हों, वे वचन ही आगम में विधेय हैं। 'मिथ्यावाद बहिष्कृतं' जो मिथ्यावचन हैं वे छोड़ देने के योग्य हैं। **''अपने खराब मूड के समय बुरे शब्द न बोलें क्योंकि खराब मूड को बदलने के बहुत मौके मिलेंगे पर शब्दों को बदलने के नहीं''** जो दुर्वचन या मिथ्या वचनों को बोलना नहीं छोड़ता है उसे धर्म का मार्ग छोड़ देता है। वह धर्म के मार्ग से छूट जाता है। इसीलिये कभी भी झूठ नहीं बोलना चाहिये।

झूठ बोलने से कभी किसी की साख नहीं होती,
कोरी बातें करने से किसी की धाक नहीं होती।
प्रारंभ में चाहे किसी को कुछ भी बता दो,
नीम की निबोली कभी दाख नहीं होती।

सत्यता प्रकट होती है तब मालूम चलता है कि व्यक्ति कैसा था। धोखा एक बार दिया जा सकता है बार–बार नहीं, काठ की हांडी एक बार चूल्हे पर चढ़ती है बार–बार नहीं चढ़ती इसलिये

विश्वास पाने के लिये पूरा जीवन दाव पर लगाना पड़ता है और विश्वास को खण्डित करने के लिये एक शब्द भी पर्याप्त है।

आचार्य महोदय ने कहा हित–मित–प्रिय वचन बोलना चाहिये जिससे आपके जीवन में भी सुख और शांति की अनुभूति हो, दूसरों के जीवन में भी सुख और शांति की अनुभूति हो। जो वचन आपके लिये बैसाखी की तरह बन सकें, जो वचन आपके लिये किसी अंगुली का सहारा बन सकें, आगम के वचन माता–पिता की अंगुली की तरह से होते हैं, जिनका सहारा लेकर के ही सज्जन पुरुष सन्मार्ग पर गमन करते हैं। **''आगम चक्खु साहू''** साधु आगम के नेत्रों से देखकर के चलते हैं, आगम के वचन ही उन साधुओं के मार्ग का प्रकाश हैं। इसीलिये सज्जन पुरुष वे नहीं हैं जिनके माथे पर तिलक लगा हो, सज्जन पुरुष वे हैं जिनके श्री मुख से धर्म के वचन (शब्द) निकलते हैं। ऊँ, नमः, जय और स्वाहा जैसे शब्द जिनके मुख से उच्चरित होते हों।

जो व्यक्ति प्रभु परमात्मा का जयकारा लगाता हो, वह सज्जन पुरुष है, जो प्रातः काल से लेकर संध्याकाल तक बहुत बार ऊँ का उच्चारण करता हो वह सज्जन पुरुष है, जो 'नमः' अपने प्रभु परमात्मा को नमस्कार करता हो, गुरुओं को, संतों को नमस्कार करता है वह सज्जन है, धर्मात्मा है और जो पूजा, हवन, यज्ञ करते हुए 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग करता है निःसंदेह वह पुण्यात्मा है धर्मात्मा है, सज्जन पुरुष है। इसीलिये सज्जन पुरुषों को भले वचन बोलना ही उचित होता है अनर्थकारी वचन, बोलना उचित नहीं है। अनुचित वचन बोलने वाला व्यक्ति भी अनुचित होता है, उचित वचन बोलने वाला व्यक्ति भी उचित होता है इसीलिये अच्छे व्यक्तिव की पहचान यही है कि उसके श्री मुख से अच्छे वचन निकलते हैं।

जो ध्वनि स्वर्ण के बजाने से निकलती है वह लोहे या मिट्टी के बर्तन से नहीं निकलती है, व्यक्ति के व्यक्तिव की पहचान उसके वचनों से होती है। आपका शुभ व्यक्तिव यदि हम जानना चाहते हैं तो आपके श्री मुख से निकले चार शब्दों से जान सकते हैं। काक और कोयल दोनों एक से होते हैं किन्तु वचनों के माध्यम से ही पहचान होती है। महानुभाव! आप सभी उत्तम वचन बोलें, हम आप सभी के प्रति मंगलभावना भाते हैं, इन्हीं भावनाओं के साथ.....।

।।श्री शांतिनाथ भगवान् की जय।।

।।जैनं जयतु शासनं–विश्वकल्याणकारकं।।

उपलब्धि की सार्थकता

महानुभाव! जीवन आकाश में उड़ती हुयी पतंग की तरह से अस्थिर है, हवा इस पतंग को ऊँचाई दे सकती है और वही हवा उस पतंग को धराशाही भी कर सकती है। हवा रूपी श्वासों से चलने वाला यह जीवन, पुण्य और पाप कर्म के माध्यम से चलने वाला ये जीवन जब किसी आधार पर स्थित होता है तब जीवन में ऊँचाईयों को छूता है। पतंग के साथ जुड़ा हुआ धागा देखने में लगता है पतंग को बाँधकर रखे हुये है किंतु सत्यता ये है कि धागा पतंग के साथ है इसलिये पतंग उत्तंग को छू रही है। जिस समय पतंग के साथ धागा न होगा पतंग कटकर के जमीन पर गिर जायेगी।

हमारे और आपके जीवन में भी जब तक संयम नहीं है, अनुशासन नहीं है, दोषों का नियंत्रण नहीं है, पूज्यपुरुषों की दृष्टि हमारे ऊपर नहीं है तब तक जीवन जमीन पर पड़ी कटी पतंग की तरह से है। किंतु जिस जीवन में संयम है, अनुशासन है, पूज्यपुरुषों का आशीर्वाद है, उनका आदर्श है, उनका अंकुश है वह जीवन ऊँचाईयों को छूने में समर्थ होता है। **''अनुशासन ही अपने जीवन के उद्देश्य और उपलब्धि के बीच का सेतु है।''** किस प्रकार अपने ऊपर नियंत्रण रखना है, इस बात को जो व्यक्ति जानता है उस व्यक्ति के ऊपर दूसरों को अनुशासन करने की आवश्यकता नहीं होती। जो व्यक्ति अपने ऊपर अनुशासन रखने में समर्थ नहीं होता उसके ऊपर दूसरों को शासन करना पड़ता है। **''अगर हम खुद को अनुशसित नहीं करेंगे तो हमारा ये काम दुनिया करेगी।''** अतः स्वयं को अनुशासित रखें। जो अपने ऊपर शासन करने में समर्थ होते हैं उनके शासन में भव्य जीव, सज्जन पुरुष रहना चाहते हैं। जो दूसरों पर शासन रखने की इच्छा रखते हैं वे न स्वयं पर शासन रख पाते हैं न दूसरों पर।

''व्यक्ति खुद ही अपना सबसे बड़ा रक्षक हो सकता है और दूसरा कौन उसकी रक्षा कर सकता है? अगर आपका स्वयं पर पूरा नियंत्रण है, तो आपको वह क्षमता हासिल होगी जिसे बहुत ही कम लोग हासिल कर पाते हैं।'' जीवन शासित हो तो सुवासित हो। जीवन शास्ता के द्वारा शासित होता है तो सुवासित होता है, सुप्रकाशित होता है, परिभाषित होता है, सुभाषित होता है किंतु ये जीवन जब शास्ता के द्वारा नियंत्रित नहीं किया जाता तब जीवन दोनों किनारों को तोड़कर बहने वाली नदी की तरह से उच्छृंखल होकर के मरुथल में नष्ट हुयी नदी की तरह से नष्ट हो जाता है। वह जीवन किसी के लिये उपयोगी नहीं बन सकता है, न स्वयं के जीवन को सार्थकता, धन्यता प्रदान कर पाता है और न ही दूसरों के लिये वरदान स्वरूप बन पाता है। ''पहली और सबसे अच्छी जीत स्वयं को जीतना है।'' आचार्यों ने लिखा है जब व्यक्ति अतिरेक में जाता है उस समय व्यवहार से च्युत हो जाता है, किसी भी विभाव परिणति का अतिरेक उसके लिये न केवल दुःख और आपत्ति का आमंत्रण पत्र है वरन् पतन का मार्ग भी है, दूसरों के लिये कष्टकर भी है। क्रोध–मान–माया–लोभ का अतिरेक, कामवासना का अतिरेक, मिथ्याभाषण का अतिरेक, हिंसा–झूठ–चोरी–कुशील–परिग्रह इन पंच पापों का अतिरेक अथवा अन्य कोई भी अतिरेक हो वह उचित नहीं है।

महानुभाव! जब व्यक्ति किंचित् उपलब्धि करता है, जब कुछ वस्तु प्राप्त कर लेता है, तब उसके मन में अहं भाव जाग्रत होने लगता है। यदि वस्तु या किसी विशेष उपलब्धि के साथ अहंभाव जाग्रत हो रहा है तो वह उपलब्धि उसके लिये विनाश की कारक है। जिस उपलब्धि के साथ विनम्रता आदि कोई गुण प्रगट हो रहा है तो वह उपलब्धि उसके लिये सुखद है, वरदान स्वरूप है, उन्नति की कारक है। संसार में ऐसे व्यक्ति खोजना

बड़ा कठिन है जो उपलब्धि को प्राप्त करके विनम्र हों, दूसरों की सत्यता–यथार्थता को जान सकें, सत्यबोध के साथ रह सकें बड़ा कठिन है। अन्यथा लघु उपलब्धि पर भी व्यक्ति फूलकर के कुप्पा हो जाते हैं। जैसे कोई गुब्बारा थोड़ी सी हवा आते ही स्थिर नहीं रह पाता और हवा पूरी भर जाये तो छलांगे भरता है, आकाश को छूना चाहता है, सातवें आसमान पर चढ़ना चाहता है। जब उसकी हवा निकल जाती है तो मुख नीचा करके धराशाही हो जाता है।

उपलब्धि प्राप्त करके पचा पाना बडा कठिन है। एक भक्त प्रभु परमात्मा से प्रार्थना करता है यदि मैं अपनी उपलब्धि को पचा न सकूँ तो हे भगवन्! ऐसी उपलब्धि मुझे देना ही नहीं। क्योंकि अपच हुयी उपलब्धि स्वास्थ्य के लिये घातक है। जैसे जिस भोजन को न पचा सकें ऐसा भोजन शरीर का घात करने वाला होता है वैसे ही जीवन में जो उपलब्धि हम पचा न सकें वह उपलब्धि आत्मा के लिये घातक होती है। सुपाच्य भोजन ही शरीर को बल देता है, कांति देता है, शांति देता है, पुष्टि देता है। अजीर्ण–अपच भोजन शरीर के लिये शत्रु की तरह से है वह पाचन शक्ति को बिगाड़ देता है, जठराग्नि मंद हो जाती है, पेट खराब हो जाता है और अंदर का सत्व, बल, मल सब निकल जाता है तो व्यक्ति क्षीणकाय बन जाता है। ऐसे ही कोई व्यक्ति जीवन की चैतन्य उपलब्धि को प्राप्त करके स्वयं को संभालने में असमर्थ है, तो वह पतनोन्मुखी होता है, उसकी यात्रा ऊर्ध्वमुखी नहीं अधोमुखी होती है। वह ऊपर नहीं चढ़ता नीचे उतरता है और कई बार तो नीचे उतरता नहीं गिरता है। चढ़ने वाला व्यक्ति एक–एक सोपान चढ़ता है, गिरने वाला एक साथ सभी सोपान गिर सकता है। आचार्यों ने लिखा है–

माणस्स भयवो णत्थि, इस्सालुस्स हियंकरो
कोहस्स कहं णाणं, विरत्तस्स कहं दुहं

संसार में ऐसा कौन सा अहंकारी है जिसका कोई भगवान् हो। अहंकारी व्यक्ति स्वयं को ही भगवान् मानता है, सर्वेसर्वा मानता है। वह कहता है मुझसे बड़ा कोई है ही नहीं। 'अहंकार' का अर्थ है अंधकार यानि नीच गति को प्राप्त करने का कारण। अथवा अहंकार माने अंधकार, प्रकाश को नष्ट करने वाली प्रवृत्ति। मार्ग में प्रकाश न हो तो कितना भी व्यक्ति समझदार हो उसके पत्ति होने के अवसर बहुत होते हैं। मार्ग में यदि अंधकार हो तो मार्ग अच्छा भी हो तब भी व्यक्ति ठोकर खा सकता है, उसके पैर में काँटा, कंकड़, कील आदि चुभ सकती है, विषाक्त जंतु–जानवर उसके काट सकते हैं किंतु प्रकाश हो तो संभव है वह इन सबसे अपने आप को बचा सकता है। अहंकारी व्यक्ति के जीवन में तत्त्वबोध नहीं होता है इसीलिये अहंकारी व्यक्ति का कोई भगवान् नहीं होता है। विनम्र व्यक्ति को प्रत्येक आत्मा में परमात्मा दिखाई देता है, सज्जन व्यक्ति को सज्जन पुरुषों में भी परमात्मा दिखाई देता है, धर्मात्मा को धर्मात्मा में, धातु पाषाण की तदाकार मूर्ति में भी परमात्मा दिखाई देता हैं किंतु अहंकारी को तीनों लोकों में कहीं कोई परमात्मा दिखाई नहीं देता है। उसका भगवान् वही है जो उसकी उपलब्धि है, उसका अहंकार उससे पुष्ट होता है। वह व्यक्ति अहंकार से चलता है तो ऐसा लगता है कि धरती कांप गयी क्योंकि अहंकारी व्यक्ति पृथ्वी पर भार स्वरूप है। विनम्रता से ही व्यक्ति जीवन को सरल, आदर्श व उपलब्धियों ये युक्त बना सकता है। कहा है–**''बहुत नम्रता चाहिए रिश्तों को निभाने के लिए छलकपट से तो केवल महाभारत रची जाती है।''** न्रमता सभी के चित्त को आनंदित करने व लुभाने में समर्थ होती है। **''न्रमता वह ऊँचाई है जिसका कि कोई नाप नहीं है।''** वास्तव में व्यक्ति जितना नम्र है समझ लेना वह उतना ही ऊँचाईयों पर है। पृथ्वी पर संख्यात–असंख्यात विनम्र व्यक्ति

निवास करते हैं, भद्रपरिणामी, सरल–सहज सज्जन चित्तधारी निवास करते हैं तब पृथ्वी को आनंद की अनुभूति होती है। किंतु एक दुष्ट व्यक्ति पृथ्वी पर चलता है तो पृथ्वी को लगता है मुझे रोंद रहा हो।

एक माँ की गोद में अनेक बालकों का परिवर्धन, संवर्धन हो सकता है, किंतु उस माँ की गोद में एक दुष्ट आ जाये तो माँ की गोद को खराब कर सकता है। इसीलिये सज्जन व्यक्ति वसुधा के लिये उपहार स्वरूप हैं। अनेक सज्जनों को पाकर के ये वसुधा आनंदित होती है किंतु एक दुष्ट को पाकर वह रो उठती है। उसे ऐसा लगता है कि ये मेरा तिरस्कार–अपमान कर रहा है। उसका पग मेरे वक्ष पर रखा हुआ ऐसा लगता है कि पदाघात कर रहा हो। किंतु सज्जन पुरुष जब पृथ्वी पर चलते हैं तो ऐसा लगता है माँ अपने बालक को किलकारी भरते हुये देख रही हो, छोटे–छोटे हाथ–पावों को चूमती हो। मानी व्यक्ति का कोई भगवान् नहीं होता। यदि व्यक्ति में अहंकार है तो समझो वह भगवान् की आस्था–निष्ठा से रिक्त है। उसे अब किसी का डर नहीं रहा, भगवान् का भी नहीं, अपने माता–पिता का भी नहीं, सज्जनों का भी नहीं, दुर्जनों का भी नहीं, गुरुजनों का भी नहीं, सम्मानी–आदर्श पुरुषों का भी नहीं, मान मर्यादा का भी नहीं। जिसे इस प्रकार का भय रहता है, लोकलाज–मर्यादा को जो जानता है वह व्यक्ति अहंकार में पागल नहीं होता है। जो अहंकार में पागल है वह उच्छृंखल हाथी की तरह है।

द्वितीय बात कही 'इस्सालुस्स हियंकरो' ईर्ष्यालु व्यक्ति के लिये कोई हितकारी नहीं। क्योंकि ईर्ष्यालु व्यक्ति ईर्ष्या के कारण हर व्यक्ति को अपना अहितकारी समझता है। अहितकारी हो या न हो किंतु जब मन में ईर्ष्या का भाव भरा पड़ा है तब लगता है यह मेरा दुश्मन है, ये मुझसे आगे क्यों निकल गया। ईर्ष्यालु

व्यक्ति स्वयं ही गड्ढा खोदता है और स्वयं ही उसमें गिरता है। ईर्ष्यालु व्यक्ति स्वयं ही अपने पथ में काँटे बोता है, वह स्वयं ही अपने पथ के चिरागों को बुझाता है, वह स्वयं अपने सिर पर हथोड़ा मारता है, वह स्वयं अपने उदर में विष डालता है क्योंकि दूसरों का हित चाहे बिना स्वयं का हित नहीं हो सकता। जो स्वयं का हित चाहते हैं वे दूसरों के हित की बात भी सोचें। दूसरों का अहित करके हित के मार्ग पर नहीं पहुँच सकते।

एक व्यक्ति नदी पार करने के लिये रस्सी के पुल से जा रहा था, पीछे उसका शत्रु भी आ रहा था, वह पीछे मुड़कर देख रहा है कि उसका शत्रु भी आ रहा है वे दोनों शीघ्रता से बढ़ रहे हैं। और पहले वाले ने शीघ्र नदी पार कर खंभे पर लगी रस्सी को काटना चाहा जिससे वह शत्रु आ नहीं पाये। हुआ ये कि उसके हाथ में भी अभी सामने वाला खंभा नहीं आ पाया और उससे पूर्व उसने रस्सी काट दी जिससे वह भी गिरकर उसी नदी में गिर गया। जो दूसरों को गिराने की सोचता है वह जीवन में कब उठा है? जो जीवन में दूसरों को उठाने के लिये अपने हाथ उठाता है वह स्वयं भी ऊपर उठता चला जाता है। जब दूसरों को दबाओगे तो स्वयं भी तुम्हें दबना पड़ेगा और अपना शरीर भी झुकाना पड़ेगा। आप खड़े होकर किसी की गर्दन पकड़कर दबाओगे तो जितना उसको झुकाओगे आपको भी उतना ही झुकना पड़ेगा इसीलिये कहा कि जीवन में उन्नति चाहते हो तो उदारता का भाव रखो।

ईर्ष्या परिणाम ऐसा सुदृढ़ कपाट है जो उन्नति के मार्ग पर लगा है, उस कपाट को तोड़कर आजतक कोई बढ़ा नहीं। ईर्ष्या के साथ किसी ने उन्नति नहीं पायी। आगे कहते हैं –

'कोहस्स कहं णाणं' क्रोधी व्यक्ति के पास ज्ञान कहाँ? ज्ञानी के पास क्रोध कहाँ? अग्नि में नीर नहीं, नीर में अग्नि

नहीं। अग्नि से नीर को गर्म तो किया जा सकता है किंतु नीर से कोई सोचे कि नीर से प्रकाश प्राप्त कर ले तो वह उबलता हुआ नीर किसी की चमड़ी तो जला सकता है पर प्रकाश नहीं दे सकता। उबलता हुआ नीर हो सकता है चावलों को पका दे किंतु वह उबलता नीर अंधेरे को नष्ट करने में समर्थ नहीं होता। क्रोध में ज्ञान कहाँ? जब ज्ञान है तो उसके पास क्रोध कहाँ। सुख में दुःख नहीं, दुःख में सुख नहीं, व्यक्ति जब हँस रहा है तो मुँह फुलाकर बैठ नहीं सकता, मुँह फुलाकर बैठा है तो हँस नहीं सकता। जीवन में ये दो काज एक साथ नहीं हो सकते कि क्रोध में पागल भी हो जाये और तत्त्व का चिंतन भी कर ले यह संभव ही नहीं।

ज्ञानी पुरुष की पहचान है कि जो अपने क्रोध पर नियंत्रण कर सकता है वह ज्ञानी पुरुष है, जो अपने किसी भी विकार पर नियंत्रण कर सकता है वह ज्ञानी पुरुष है, जिसके पास ऐसा अंकुश है जिससे किसी भी विकार को दबाया जा सके वह ज्ञानी पुरुष है। जो अपने विकार को दबा नहीं सकता, विकार उसे आकर दबा लेंगे। या तो विकार को दबा ले अन्यथा विकार की मार खा ले। विकार जो अत्याचार करें उसे सहन कर। क्योंकि विकार का यह काँटों वाला पौधा तूने लगाया है, इस कंटकबीज का यही तेरा फल है। विकार का पौधा जब से पैदा होता है तब से ही उसे नष्ट करने का भाव रखो, जब वह बड़ा पौधा हो जायेगा तो कई पौधे ऐसे भी होते हैं जो मनुष्य को भी चूस लेते हैं। मनुष्य के रक्त को चूसकर के उसे मृत कर देते हैं। क्रोध का पौधा ऐसा ही है जो जन्म लेता है तो ज्ञानादि गुणों को चूस लेता है चेतना को नष्ट करता है।

अंतिम बात कही **'विरत्तस्स कहं दुहं'** जो विषय भोगों से विरक्त है उसे दुःख कहाँ। दुख तो मिथ्याज्ञानी को होता है,

दुःख तो मोही जीव को होता है, दुःख तो विकारी भावों से वृद्धिं गत होता है, दुःख तो कषायी जीव को होता है, पापिष्ठ जीव को होता है। जो विरक्त भाव से युक्त है, वैरागी है उसे दुःख कहाँ। जो तत्त्वबोध से सहित है, जिसका जो स्वभाव है उस स्वभाव को जानता है, जो वस्तु नष्ट होनी है सो होनी है, इसकी ऐसी ही परिणति है वह यह सब जानता है इसीलिये दुःख नहीं करता है।

''तत्त्वज्ञान हि जीवानां लोकद्वये सुखावहं''

तत्त्वज्ञान दोनों लोकों में सुख देने वाला होता है और **''तत्त्वज्ञान विहीनानां दुःखमेव ही शाश्वतं''** जिसके जीवन में तत्त्वज्ञान नहीं है उसके जीवन में शाश्वत दुःख ही दुःख है।

ये चार बातें जीवन में ध्यान रखें कि मानी व्यक्ति का कोई भगवान् नहीं होता, ईर्ष्यालु का कोई हितकारी नहीं होता, क्रोधी के पास कोई ज्ञान नहीं होता व वैरागी को कोई दुःख नहीं होता। ये चार बातें जीवन में कभी भी काम आ सकती हैं इन बातों से अपना जीवन सफल और सार्थक करें इन्हीं सद्भावनाओं के साथ.....।।

।।श्री शांतिनाथ भगवान् की जय।।

।।जैनं जयतु शासनं–विश्वकल्याणकारकं।।

धन्य कौन?

महानुभाव! जो व्यक्ति समय के रहते हुये सुकृत करने में समर्थ होता है, वह व्यक्ति लोक में प्रशंसनीय, सम्मानीय और आदरणीय होता है। जो समय और स्थान की कीमत नहीं पहचानता वह अपने जीवन में चाहे कितने भी बड़े कार्य क्यों न करे लोक में आदर्श नहीं बन पाता। जो समय की कीमत जानता है और स्थान का महत्व जानता है ऐसा अल्पज्ञानी, अल्पपुरुषार्थी भी श्रद्धा का पात्र होता है, सम्मान को प्राप्त कर लेता है, लोग उसके पदचिह्नों पर चलने के लिये आतुर रहते हैं।

समय जो निरंतर गतिशील है, और स्थान यूँ तो सर्वलोक एक जैसा है फिर भी व्यवहार की अपेक्षा से कहाँ कौन सा कार्य किया जाना उचित है, कब कौन सा कार्य किया जाना उचित है यह श्रावक के लिये विवेक रखना बहुत जरूरी है। वही श्रावक एक क्रिया को सामान्य स्थान पर करता है, यदि उसी क्रिया को वह श्रावक पवित्र स्थान पर करता है तो वह विशेष पाप का बंध करता है। पुण्य क्रिया को किसी सामान्य स्थान पर करता है पुनः यदि किसी विशेष स्थान पर करता है तो विशेष फल को भी प्राप्त करता है।

जीवन सार्थक हो, कृतकृत्य हो, धन्यवाद के योग्य हो यह संभव है किंतु तभी जब हम जीवन के प्रति जागरूक हो जायें। जो व्यक्ति जीवन के प्रति सुसुप्त है, मूर्च्छित है, अज्ञानता के आगोश में पड़ा हुआ है वह अपने जीवन को सफल सार्थक नहीं कर सकता और न ही दूसरों के लिये निमित्त बन पाता है। आचार्यों ने कहा है कि संसार में धन्यभागी कौन है? धन्यभागी मानने के सबके पैमाने अलग–अलग हैं। कोई व्यक्ति किसी अपेक्षा से किसी को धन्यभागी कहता है तो कोई दूसरी अपेक्षा से। किन्हीं

आचार्य भगवंतों ने कहा है जो सर्वप्रथम धर्म पुरुषार्थ का सेवन करता है। अर्थ और काम पुरुषार्थ को जो बाद में उपादेय मानता है वह धन्य भागी है। जिसकी दृष्टि में धर्म पुरुषार्थ का महत्व कम है, काम पुरुषार्थ और अर्थ पुरुषार्थ का महत्व ज्यादा है भोगी प्राणी उसे भी धन्यभागी कह सकते हैं। वह धर्मात्मा की दृष्टि में धन्यभागी नहीं हो सकता है।

कौन व्यक्ति आपके किस गुण विशेषता से रीझ कर आपको धन्य कहने लग जाये कुछ नहीं कह सकते। जिस व्यक्ति की दृष्टि में वह जिस गुण को विशेष मानता है, वह जिसे अधिक महत्व देता है उस गुण की अपेक्षा से आपको वह धन्यभागी कह सकता है। कोई आपके रूप को देखकर कह सकता है धन्य है आपके लिये जो आपने ऐसा सुंदर रूप पाया, कोई आपके कंठ को सुनकर कह सकता है क्या मधुर कंठ है, ऐसा लगता है कि कर्ण सदैव प्यासे चातक की तरह से आतुर ही रहते हैं, कोई व्यक्ति आपके शारीरिक बल को देखकर कह सकता है कि धन्य है आपके लिये जो आपने ऐसी सामर्थ्य प्राप्त की है, कोई व्यक्ति आपके उच्चकुल को देखकर धन्य कह सकता है क्या उच्च कुलीन आपका वंश है, कोई आपके मित्र–संबंधी आदि को देखकर आपको धन्य कहे तो ऐसे संसार में धन्य–धन्य कहने वाले बहुत से जन पग–पग पर मिलेंगे, पर यह धन्यता आपको वास्तव में धन्य कर पायेगी या न कर पायेगी यह विचारणीय है। किंतु धर्म पुरुषार्थ के माध्यम से जो धन्य होना चाहता है, उसका जीवन अवश्य ही धनिकों के लिये भी धन्यवाद के योग्य होता है। वह जीवन अवश्य ही आत्म–हितार्थियों के लिये भी धन्यवाद के योग्य होता है।

महानुभाव! धर्मात्मा, धर्माचार्य, ऋषि, मुनि, संत, भदंत पुरुष धन्य किसे कहते हैं? उनकी दृष्टि में धन्य वह है जो नित्य भगवान् के दर्शन करता है, आप पढ़ते हैं–

धनि घड़ी यो धनि दिवस यो ही, धनि जनम मेरो भयो।
अब भाग्य मेरो उदय आयो, दरश प्रभु जी का लखलह्यो

हे भगवान्। आपके दर्शन मैंने करे, मैं धन्य हो गया, मेरा समय, मेरा दिन धन्य हो गया, पूरा जीवन धन्य हो गया। उधर अभिषेक पाठ में पढ़ते हैं–

''धन्य–धन्य हैं ते भाग्य'' वे जीव धन्य हैं जो भगवान् का अभिषेक करते हैं, धन्य हैं वे जीव जो मंदिर के शिखरों पर कलशा चढ़ाते हैं, धन्य–धन्य हैं वे जीव जो जिनालय बनवाते हैं, धन्य हैं वे पुरुष जिन्होंने प्रभुवर की वेदी बनवायी, धन्य हैं वे पुरुष जिन्होंने सम्यग्ज्ञान का प्रचार–प्रसार करने के लिये ग्रंथों का प्रकाशन कराया, धन्य हैं वे पुरुष जो सिद्धों की आराधना करते हैं पूजा–विधान रचाते हैं, रथोत्सव करते हैं। कवियों ने, आचार्यों ने इस प्रकार से कितनी ही व्याख्या की हैं।

धन्यभागी वह भी है जो गुरुओं की चरण वंदना करता है। बडभागी वह है जो आत्मा के लिये जागरुक है, अपनी आत्मा को जानने के लिये पुरुषार्थी है वह भी धन्यभागी है। अन्य आचार्यों ने कहा–जो तीनों संध्याकालों में सामायिक करता है वह धन्यभागी है क्योंकि वही व्यक्ति तीन प्रकार के कर्मों को नष्ट करने में समर्थ होता है, वही जीव तीन लोक का नाथ बनने में समर्थ होता है। कवि रत्नाकर कहते हैं–''धन्य है भरत चक्रवर्ती जिन्होंने दिग्विजय की और छः खण्ड का राज्य प्राप्त किया। तो दूसरे आचार्य कहते हैं कि धन्य है भरत चक्रवर्ती जो मुनिराजों को आहार कराकर ही आहार करते हैं, तीसरे आचार्य कहते हैं– धन्य है भरत चक्रवर्ती जो तीनों संध्याकालों में सामायिक करते थे, कई आचार्य कहते हैं–धन्य हैं वे भरत चक्रवर्ती दीक्षा लेते ही अन्तर्मुहूर्त्त में केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया।

महानुभाव! धन्य तो वह ग्वाला भी है जिस सुभग ग्वाले ने रात्रिभर मुनिराज की वैय्यावृत्ति की ओर वह सुदर्शन सेठ बन गया धन्य है वह अकृतपुण्य जिसने मुनिराज की आहारदान की अनुमोदना की ओर आगे वही धन्यकुमार बन गया। धन्य है वह धनद नाम का ग्वाला जिसने एक पुष्प चढ़ाकर के भगवान् के चरणों में प्रणाम किया आगे वही राजा करकण्डु बना। धन्य है वह चंदनबाला जिसने अपनी नारी पर्याय को सार्थक कर लिया भगवान् महावीर स्वामी को आहार देकर के। धन्य हैं वे देवपत और खेवपत जिन्होंने शिखर जी निर्वाण भूमि पर भगवान् के चरणों में ज्वार के दाने चढ़ाये और उनकी भक्ति से वे ज्वार के दाने मोती बन गये। धन्य है वह महासती सीता जिसके प्रभाव से अग्नि भी जल बन गयी। धन्य है वह मेंढक जो राजा श्रेणिक के हाथी के पग तल आकर मृत्यु को प्राप्त हुआ और भक्ति के भाव वश स्वर्ग में देव हुआ।

ऐसे कितने ही उदाहरण हैं। जहाँ मातंग को भी धन्य कह दिया कि जो अहिंसा व्रत का पालन करके देव अवस्था को प्राप्त हुआ, कितनी ही सतियों को धन्य कहा कितने पुरुषों को धन्य कहा। आचार्यों के धन्य की व्याख्या अलग है और आपकी धन्य की व्याख्या अलग है। आप संसार की भौतिक, लौकिक पद–प्रतिष्ठा–उपलब्धि को प्राप्त किसी भी व्यक्ति को देखकर उसे कह देते हैं धन्य है यह बालक और धन्य हैं इसके माता–पिता। अथवा जिसके कुल में कोई त्यागीव्रती जन्म लेते हैं तो उन्हें भी आप धन्य कह देते हैं जिन्होंने ऐसे पुत्र–पुत्री को जन्म दिया। तो धन्य–धन्य अनेक प्रकार से आप कह देते हैं। किंतु आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी धन्य किसे कहते हैं उन्होंने अर्हद् भक्ति में लिखा है–

चित्ते मुखे शिरसि पाणि पयोज–युग्मे,
भक्तिं स्तुतिं विनतिमञ्जलिमञ्जसैव।
चेक्रीयतेचरिकरीति चरीकरीति,
यश्चर्करीति तव देव! स एव धन्यः।।13।। श्री अर्हद् भक्ति

हे जिनेन्द्र देव! आपके मत में धन्य वहीं है जो अपने चित्त में अरिहंत भगवान् की भक्ति को स्थापित करता है। जिसके चित्त में अरिहंत का बिंब ऐसे प्रतिबिम्बित होता है जैसे तस्वीर सामने लगी हो और जब देखो तब नजर आती हो। अथवा दर्पण के सामने आप जब भी जाओ आपका प्रतिबिम्ब आपको दिखाई देता है ऐसे ही आँख बंद करके या आँख खोलकर भी व्यक्ति अर्हत् बिम्ब को निरंतर देख सकता है। जिसके चित्त में अरिहंत भगवान् का वीतरागी बिम्बं स्थायी रूप से विराजमान हो गया है उसे अर्हन्त मुद्रा ही दिखायी देती है। लोग कहते हैं–जब भी मुझे कोई प्रतिकूलता होती है, मैं आँख बंद करता हूँ और जिनेन्द्र भगवान् का प्रतिदिन अभिषेक करता हूँ, मेरे नेत्रों में वह बिंब आ जाता है, ऐसा लगता है मेरे हृदय में वह बिम्ब विराजमान है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी भी उसी बात को कह रहे हैं।

जिसके चित्त में अर्हन्त परमेष्ठी आदि के प्रति निर्मल भक्ति विराजमान रहती है, चित्त में कषाय का उद्रेक नहीं, विषय वासना की कीचड़ नहीं, अन्य प्रकार का विभाव परिणाम नहीं, पाप प्रवृत्ति नहीं, जिसका चित्त दर्पणवत् निर्मल है, जैसे–दर्पण निर्मल होता है तो अपना चेहरा भी साफ दिखाई देता है और दर्पण समल हो तो चेहरा भी समल दिखाई देता है। चित्त की निर्मलता अरिहंत भगवान् को अपने अंदर आविर्भूत करती है। चित्त ज्यों–ज्यों निर्मल होता जाता है त्यों–त्यों आपके चित्त में से अर्हत् बिम्ब प्रकट होने लगता है, जैसे–पाषाण खण्ड को शिल्पकार तराशता है। वह पहले तलाशता है कि कौन सा पाषाण खण्ड मूर्ति के

योग्य है, उस तलाश को पूर्ण कर वह पाषाण को तराशना प्रारंभ करता है।

संसार के कुछ प्राणी ऐसे होते हैं जो आधी जिंदगी तलाशने में निकाल देते हैं और कुछ तराशने में निकाल देते हैं कहीं पहुँच ही नहीं पाते। किंतु जिन्होंने अपनी आत्मा को ही एक अनगढ़ पाषाण मानकर के उसको तराशना प्रारंभ किया और उसके लिये एक outline अपने चित्त में स्थापित की, जैसे नया भवन बनाने वाला व्यक्ति पहले उसका नक्शा बनवाता है कुंभकार को भी यदि कलश बनाना हो तो पहले भावों (कल्पना) में कलश बनाता है या और भी कोई आभूषण या वस्त्र बनाने वाला द्रव्य में बनाने से पहले भाव में साकार रूप दे देता है इसी प्रकार जो भविष्य में परमात्मा बनने वाला है उसके चित्त में पहले परमात्मा का रूप आविर्भूत हो जाता है तभी वह उसे अपना आदर्श और उद्देश्य बनाकर बढ़ना प्रारंभ करता है। तब आचार्य महोदय कह रहे हैं 'चित्ते' भक्तिः—चित्त में अहर्निश भक्ति उमड़ती रहती है। जैसे समुद्र में जल होता है हवा चलने से लहरें उठती हैं ऐसे ही जिसके चित्त में श्रद्धा का नीर नहीं होता है तो भक्ति की लहर नहीं उठती है। श्रद्धा का सूर्य न हो तो भक्ति का प्रकाश न आये, श्रद्धा का पुष्प न हो तो भक्ति की सुगंध न आये, श्रद्धा का फल न हो तो भक्ति की मिठास न आये, श्रद्धा की अग्नि न हो तो भक्ति की उष्णता न रहे। ये एक दूसरे के बिल्कुल अविनाभावी हैं।

तो चित्त में भक्ति का वास हो। ''मुखे स्तुति''—जिसके मुख से प्रायःकर के स्तुति के वचन निकलते हैं। जो पंचपरमेष्ठी की स्तुति वाचक वचन, गुरुओं की गुण प्रशंसा अपने श्री मुख से करता है वह निःसंदेह प्रशंसनीय है वह आज नहीं तो कल गुण निधि को प्राप्त करेगा, आज नहीं तो कल गुण समुद्र बन ही जायेगा।

तीसरी बात कही 'शिरसि विनति (जिसका सिर पंचपरमेष्ठी के चरणों में झुका रहता है निःसंदेह उसका मस्तक पूरे लोक में उठा रहता है। जिसने अपना सिर भगवान् के चरणों में झुकाया है उसके चरणों में भी एक दिन पूरा लोक सिर झुकायेगा। शिर की शोभा परमेष्ठी के चरणों में झुकने से ही है। 'पाणिपयोजयुग्मे' जो दोनों हस्त कमल जोड़कर के अच्छी तरह से अंजुलीबद्ध कर अपने मस्तक पर धारण करता है व मस्तक झुकाता है उसके हाथ ही सार्थक हैं।

महानुभाव! जो चित्त से भक्ति करता है, मुख में भगवान् की स्तुति वाचक शब्दों को धारण करता है, सिर के ऊपर दोनों हाथों को जोड़कर कमल की पाखुंडी की तरह से धारण कर सिर को झुकाता है, हाथों को हृदय कमल पर रखकर भी सिर को झुका लेता है। ऐसा जो भी भव्यजीव करता है वह ही धन्य है।

हे प्रभु! हे जिनेन्द्र देव! जो आपकी भक्ति करे, स्तुति करे, आपको नमस्कार करे, आपको प्रणाम करे, आपकी वंदना करे उसका अंग–उपांग सब धन्य है, सार्थक है। ऐसा करने वाला जो शरीर है वह भी धन्य और सार्थक है और उस शरीर में रहने वाली आत्मा ही वास्तव में धन्यवाद के योग्य है।

इस प्रकार आचार्य पूज्यपाद स्वामी अपर नाम ''देवनंदी'' जी महाराज ने लिखा। महानुभाव! आप अपने जीवन को, शरीर को, वाणी को, मन को धन्य करें। धन्यता यही है कि संसार का विच्छेद करने वाली प्रवृत्ति करें। आप सब संसार का विच्छेद करके आत्मा के स्वभाविक गुणों को प्राप्त कर सकें, ऐसी हम आपके प्रति मंगल भावना भाते हैं और इन्ही मंगल भावनाओं के साथ....।।

।।श्री शांतिनाथ भगवान् की जय।।
।।जैनं जयतु शासनं–विश्वकल्याणकारकं।।

सुखद जीवन का राज

महानुभाव! समीचीन जीवन जीने के लिये कुछ आवश्यक बातें भी होती हैं, यदि उन बातों को ध्यान में नहीं रखा जाये तब ये जीवन जो वरदान स्वरूप बन सकता है, अभिशाप बन जाता है। वस्तु वही है, व्यक्ति वही है, मार्ग वही है किंतु प्रयोग करने की विधि अलग–अलग है। एक व्यक्ति उन्हीं वस्तुओं के माध्यम से सुख का अनुभव ले सकता है, दूसरा व्यक्ति उन्हीं वस्तुओं से दुःख का। एक व्यक्ति उन्हीं व्यक्तियों के बीच बैठकर के आनंद ले रहा है, दूसरा क्लेश भाव के साथ जी रहा है। एक व्यक्ति उसी समय में कर्मों का क्षय कर रहा है दूसरा व्यक्ति उसी समय में तीव्र पाप कर्मो का बंध भी कर रहा है। एक व्यक्ति उसी स्थान पर बैठकर के अपने अघ प्रक्षालन कर रहा है, दूसरा व्यक्ति निधत्ति और निकाचित जैसे कर्मों का भी बंध कर रहा है।

संसार में जितने भी द्रव्य हैं उनमें से कोई भी द्रव्य एकान्ततः न तो पाप का निमित्त है, न पुण्य का। संसार में जितने भी द्रव्य हैं, जितनी भी वस्तुयें हैं एकान्ततः न वे मोक्ष की निमित्त हैं और न एकान्ततः संसार की निमित्त हैं। यह उस व्यक्ति पर निर्भर करता है कि किस व्यक्ति, वस्तु, समय और स्थान का वह किस प्रकार उपयोग करता है। आचार्य भगवन् अमितगति स्वामी जी ने सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा श्रावक के लिये चार बातें कहीं हैं जो इन चार बातों का ध्यान रखता है वह संक्लेशता से बच सकता है। उन्होंने बताया–

1. प्राणी मात्र के प्रति मैत्रीभाव 2. गुणी जनों के प्रति प्रमोद भाव 3. दुःखीजनों के प्रति दया–करुणा का भाव 4. विरोधियों के प्रति मध्यस्थ भाव। जिसे आप मेरी भावना में भी पढ़ते हैं–

मैत्री भाव जगत में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे,
दीन–दुःखी जीवों पर मेरे उर से करुणा स्रोत बहे,
दुर्जन क्रूर कुमार्ग रतों पर क्षोभ नहीं मुझको आवे
साम्य भाव रखूँ मैं उन पर ऐसी परिणति हो जावे
गुणी जनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे
बनें जहाँ तक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावे।।

यह मेरी भावना अत्यंत महत्वपूर्ण है। कई प्रान्तों में मेरी भावना की कुछ पक्तियों को स्कूलों में प्रार्थना रूप में प्रयोग किया जा रहा है। जैन समाज के अतिरिक्त किसी भी समाज के महानुभाव हैं वे इन पंक्तियों को गुनगुनाते हैं, इन पंक्तियों का अर्थ समझते हैं तो लगता है ये प्रभु परमात्मा की सच्ची प्रार्थना है। मेरी भावना में मानो अपने जीवन का संविधान कह दिया कि जिससे मेरा मन अपराधी न बने, मेरा मन क्लेश भाव को प्राप्त न हो, जिससे मेरे श्रीमुख से दुर्वचन न निकलें, उसके लिये सुरक्षा करना जरूरी है। युद्ध क्षेत्र में जाते समय तलवार लेकर जाना मात्र पर्याप्त नहीं है, ढाल भी आवश्यक होती है। युद्ध क्षेत्र में ढाल और तलवार ही विजय नहीं दिलाती है मन का उत्साह भी चाहिये और साथ ही शरीर पर कवच भी चाहिये। वह शक्ति भी चाहिये जिससे शत्रु से बचकर उस पर प्रहार किया जा सके। जो केवल सोचता रहा कि मैं क्या करूँ तो वह विजय प्राप्त नहीं कर सकेगा, तो ऐसे ही अपने जीवन को सुखद कैसे बनाया जा सकता है इस संबंध में आचार्यों ने लिखा है–

दूरो हवेज्ज दुट्ठादो, मोणं हु मूढ सम्मुहे।
वत्तं करेज्ज णाणीसुं, सज्जणाणं सुसंगदी।।

''दूरो हवेज्ज दुट्ठादो''–यदि जीवन में सुख शांति चाहिये, सहज में ही पुण्य चाहिये तो उसका उपाय यहाँ बताते हैं। हमें मुफ्त का पुण्य भी मिल जाये और हम सहज ही पापों से भी

बच जायें। हम संसार की कीचड़ से कैसे बच जायें उसके लिये यहाँ चार बातें कह रहे हैं, यदि ये चार बातें हम ध्यान रखेंगे तो निःसंदेह मान लीजिये आपके 80-90% प्रसंग आपके संक्लेशता के टल जायेंगे। प्रथम बात कही–जो दुष्ट प्रवृत्ति वाले व्यक्ति हैं उनसे दूर रहो।

अग्नि की समीपता वस्त्रों को भी जला सकती है और वस्त्रों को न भी जलाये अग्नि के समीप खड़े हो जाओ तो शरीर में संताप देने वाली होती है। जो अग्नि के समीप बार–बार बैठते हैं निःसंदेह वे एक बार कपड़े जलाकर के उठते हैं।

दुर्जनों से अगर रखोगे दोस्ताना,
दुर्जन ही समझेगा तुमको जमाना।
बैठोगे नित्य–नित्य अग्नि जलाकर,
उठोगे एक दिन वस्त्रों को जलाकर ।।

दुष्टों की संगति से आपके ऊपर एक ऐसी मोहर ठुक जाती है कि ये भी ऐसा ही होगा। आप लोग जब कभी अपने–बेटा–बेटी का संबंध करने के लिये जाते हैं तो बेटे–बेटी की संगति भी जानने का प्रयास करते हैं।

यदि उसकी संगति ऐसे लड़के के साथ है जो पीने–खाने वाला है तो आपको उस पर शंका होगी, उसकी संगति ऐसे लड़के के साथ है जो नित्य अभिषेक करता है, स्वाध्याय करता है, पूजन करता है, वह पुण्यात्मा–धर्मात्मा है या किसी साधु का भक्त है तो आपको लगेगा यह लड़का ठीक है या लड़की संस्कारवान् है जो आर्यिका माताजी आदि की सेवा में संलग्न है, पूजा–पाठ करती है, व्रत उपवास करती है। तो इससे ज्यादा जानकारी की आवश्यकता नहीं रहती उसकी संगति से उसके व्यक्तित्व की पहचान हो जाती है। यह एक नियामक हेतु भी है जिस व्यक्ति

के चित्त में जो बसा होता है वह उसी के अनुरूप उस व्यक्ति को खोज लेता है। जिसके हृदय में संयम है वह संयमी की खोज करता है, उसे उसके पास जाकर आनंद आयेगा। ज्ञानी, ज्ञानी की खोज करके उसके पास बैठेगा, जो बातों का जमा खर्च करने वाला है वह बातूनी व्यक्ति की खोज कर लेगा सुबह से शाम तक गप्प लगाता रहेगा और कोई व्रत–उपवास करने वाला है तो वैसी ही संगति खोजेगा तो जिसका जैसा मन होता है वह अपने मनोनुकूल साधन–सामग्री वस्तु खोज लेता है।

यहाँ पर कह रहे हैं कि यदि सुख शांति चाहिये तो दुर्जनों से दूर हो जायें। दुर्जन के रग–रग में दुष्टता होती है। कहते हैं कि

भुजंगानां विषं दन्ते मक्षिकाणां च मस्तके।
वृश्चिकानां विषं पुच्छे सर्वांगेषु दुरात्मनाम्।।

बिच्छु के डंक में विष होता है, सर्प के दाँत में विष होता है, मक्खी आदि के मस्तक में विष होता है किंतु दुर्जन व्यक्ति के तो सर्वांग में विष होता है। इसीलिये दुष्ट से दूर रहोगे तो बचे रहोगे। बैल यदि मारता है तो पास में आकर के सींग मारता है, घोड़ा जब मारता है तो पीछे से लात मारता है, यदि कुत्ता आता है तो सामने से काट खाता है किन्तु दुष्ट व्यक्ति तो दूर से ही मार सकता है। इसलिये दुष्टों की संगति निःसंदेह पग–पग पर पल–पल में दुःख व क्लेश को देने वाली होती है।

कुसंसर्गः सदा त्याज्यो, दोषाणां प्रविधायकः
सगुणोऽपि जनस्तेन, लघुतां याति तत् क्षणात्।।269।।

सर्वदोषों को उत्पन्न करने वाली कुसंगति हमेशा त्याज्य है, क्योंकि उस कुसंगति से गुणी मानव भी क्षणभर में लघुता को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् दुराचारी, व्यसनी, रागी पुरुषों की संगति से महान् सदाचारी गुणवान् पुरुष भी कलंकित हो जाता

है। संगति में दोषों की छाप पड़ जाती है। अतएव सदा ही सन्तों की संगति वाञ्छनीय है। परिणामों की उच्चता रखने के लिए धर्मात्मा और ज्ञानी पुरुषों की संगति करनी चाहिए।

तो सज्जन का कर्तव्य है कि जीवन में न कभी दुष्ट व्यक्ति का साथ दे और न कभी दुष्ट का साथ ले। दुष्ट तो कोयले की तरह से है चूमोगे तो मुँह काला करेगा और वह कोयला गर्म हो गया तो जला देगा। अथवा यूँ कहें दुष्ट व्यक्ति कीचड़ की तरह से है कीचड़ को किसी पर फेंकोगे तब ही हाथ गंदे होंगे, कीचड़ छुड़ाओगे तब भी हाथ गंदे होंगे।

बात हर बार परवरिश की नहीं होती है.....संगत दुर्जनों की हो गर, तो दुष्टता आ ही जाती है।

अतः उत्तम बात यही है यदि अपनी सुख शांति चाहते हो तो कोयले जैसे दुष्ट व्यक्ति से दूर रहो। अन्यथा संसार में सब प्रकार के व्यक्ति हैं जैसा चाहो वैसे रहो। कौऐ को नीम की निबोली अच्छी लगती है तो कोयल को आम कोई किसी को रोकता नहीं। जिसको जो अच्छा लगता है वह करे किन्तु सज्जन व्यक्ति वह है जो दुर्जन के साथ न चले।

आगे कह रहे हैं–**'मोणंहु मूढ–सम्मुहे'** मूर्ख व्यक्ति के सामने मौन लेकर बैठ जाओ। कभी मूर्खों को अपनी विद्वत्ता मत दिखाओ अन्यथा तुम कहोगे कुछ वह समझेगा कुछ और अर्थ का अनर्थ कर देगा। मूर्खों के सामने एक शब्द भी कहना अपने ऊपर आपत्ति मोल लेना है। एक महात्मा जी थे, उनके दो चेले थे, दोनों एक–एक पैर की सेवा करते थे। एक दिन चेला कहीं चला गया, दूसरा चेला शाम को महात्मा जी के पास आया और उसने महात्मा जी के दाँये पैर की सेवा की, महात्मा जी थोड़े थके थे, वे लेट गये उन्होंने बायाँ पैर आगे किया और दाँये पैर को नीचे

कर लिया। उस चेले ने देखा कि अरे! महात्मा जी ने मेरे पैर को तो नीचे कर दिया और उसके पैर को ऊपर रखा। उसने लिया डंडा और बाँये पैर को मारना प्रारंभ कर दिया। तब तक दूसरा चेला भी आ गया उसने देखा अच्छा ये मेरे बायें पैर को पीट रहा है उसने भी उठाया डंडा और दाँये पैर को पीटना प्रारंभ किया। महात्मा जी चिल्लाये, अरे मेरी सुनो तो सही। वे बोले हम नहीं सुनेंगे। इसने मेरे बायें पैर को डंडा मारा है मैं सहन नहीं कर सकूँगा। महात्मा जी ने कहा भाई! ठहरो तो सही, तुम दोनों क्या मेरे प्राण लेकर ही रहोगे। दोनों रुके बोले क्या बात है? महात्मा जी ने कहा–ये दोनों पैर हैं तो मेरे ही आप दोनों क्यों पीटने पर तुले हो। दोनों चेले बोले आपने ही तो कहा था एक पैर इसका है और दूसरा मेरा। अरे! वो तो मैंने इसीलिये कह दिया था कि तुम दोनों मेरी वैय्यावृत्ति करने के लिये लड़ते थे, तो मैंने कह दिया एक की सेवा तुम कर लेना, दूसरे की तुम।

अब बेचारे गुरु जी पछता रहे हैं अच्छा मैंने बँटवारा किया मेरे तो प्राण ही चले जाते। तो महानुभाव! मूर्खों को कुछ भी न कहो, उनके आगे मौन हो जाओ अथवा जितना कम बोलोगे उतना ही सम्मान पाओगे। जितना कम बोलोगे उतना ही सुखी रहोगे। हाँ अगर मूर्खों के सामने बोलना शुरू कर दिया तो मूर्ख तुम्हारी बात को कैसे पकड़े, तुम्हारे अर्थ को कैसे निकाले कुछ नहीं कह सकते। वे तुम्हारी ही बात को पकड़कर तुम्हें नीचा दिखा सकते हैं और तुम्हारी एक छोटी सी बात को ऊँचा भी कर सकते हैं। इसलिये आचार्यों ने कहा मूर्खों के लिये मौन से बढ़कर कोई उपदेश हो नहीं सकता जब भी मूर्खों को उपदेश देना हो तो मौन से उपदेश दो। और जो विद्वान् पुरुष हैं, ज्ञानी–विवेकीजन हैं जो जिस भाषा को जानते हैं उन्हें उस भाषा में उपदेश दो। उससे विपरीत भाषा में उपदेश दोगे तो निःसंदेह अर्थ का अनर्थ

कर जाओगे। ''यदि कहने के लिए कुछ अच्छा नहीं है तो चुप रहना ही एक अच्छा विकल्प है।

महानुभाव! तो द्वितीय बात यही कही कि मूर्खों के आगे मौन श्रेयस्कर है। मूर्खों के समक्ष मौन लेकर बैठ जाओ अन्यथा पग–पग पर बंधन में फँस जाओगे। जब कोई कोयल या तोता बोलता है और दुष्ट बहेलिया आये, मूर्ख आये तो वह उन्हें पकड़ ही लेगा, अरे ये तो बहुत अच्छा बोल रहे हैं। इसलिये मौन रहने में सर्व दोष छिप जाते हैं। मौन गुणों को प्रकट करने वाला है। मौन साधना करने वाला साधक ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम की वृद्धि करता है।

मौन साधना करना प्यारे, मौन सदा सुखदायी है।
आत्म शांति का अनुभव होगा, सुख की यही दवाई है।।

अतः अधिकांश समय मौन रखो। मौन से स्वास्थ्य भी ठीक रहता है शरीर में कांति–शांति रहती है, व्यक्ति ओजस्वी–तेजस्वी बनता है, वचनसिद्धि आदि गुण भी प्राप्त होते हैं।

तृतीय बात कह रहे हैं–**''वत्तं करेज्ज णाणीसुं''** यदि वार्तालाप करना है तो ज्ञानी पुरुषों के साथ करो। विवेकीजनों के साथ चर्चा करोगे तो दो विवेकपूर्ण बातें सुनने को मिलेगी। आपने कोई प्रसंग छेड़ दिया तो उस प्रसंग से संबंधित अच्छी बातें आपको बतायेंगे हो सकता है उन अच्छी बातों से आपका पूरा जीवन ही बदल जाये। क्योंकि किसी निमित्त को पाकर के स्मृति में से अच्छे–अच्छे प्रसंग स्मरण में आ जाते हैं। चाहे दृष्टान्त, चाहे कोई सिद्धान्त की बातें, चाहे नीतियाँ–युक्तियाँ, चाहे मुहावरे, चाहे सूक्ति आदि कुछ भी उनकी स्मृति में आता है। तो ज्ञानी पुरुषों के पास एक क्षण भी बैठते हैं तो ऐसा लगता है कि प्रज्ज्वलित दीपक के पास बैठ गये। प्रज्ज्वलित दीपक के पास

पुस्तक खोलकर बैठोगे तो पढ़ना प्रारंभ कर सकोगे। प्रज्ज्वलित दीपक के पास बैठकर सुई में धागा भी डाला जा सकता है। ज्ञानी पुरुषों के पास बैठकर चर्चा कर रहे हैं और उन्होंने कह दिया मौन ग्रहण करो तो यह भी एक अच्छी बात कह दी, और चर्चा ही कर रहे हो तो कहेगा वाह। इन बातों में से ये बात बहुत अच्छी है। क्योंकि हमारी आपकी हो सकता है सबकी सब बातें अच्छी न लगें, किसकी बात किस प्रसंग पर श्रेष्ठ हो सकती है वह ज्ञानी पुरुष आपको बता सकता है ये बात आपकी श्रेयस्कर है कि इसे आप स्वीकार करें।

महानुभाव! विवेकीजनों के बीच में बैठकर के वार्तालाप करना उचित है। वार्तालाप उनके बीच में न करो जो शोकाकुल हैं, दुःखी हैं, आक्रंदन कर रहे हैं, जो इष्ट के वियोग–अनिष्ट के संयोग से आकुल–व्याकुल हैं। जिनके चित्त में कुछ पाने की आकुलता है, जिनका मन मनःसंताप से संतापित है उनसे वार्तालाप न करो, उनसे वार्तालाप करके तुम्हारा चित्त भी दुःखी हो जायेगा, इसलिये ज्ञानी पुरुषों के साथ गोष्ठी करो, वार्ता करो, पृच्छना करो, उपदेश सुनो तब आपका चित्त आह्लादित होगा, आनंदित होगा।

और आगे कह रहे हैं–**'सज्जणाणं सुसंगदी'** यदि संगति करनी है तो सज्जन पुरुषों की करें। नहीं मिले तो भले ही अकेला बैठे रहो।

मन मिले तो मीत बनाओ, चित्त मिले तो चेला।
साधु मिले तो संगति कीजे, नहीं तो भला अकेला।।

जिसके साथ आपका मन मिले उसे अपना मित्र बनाओ और जिस चेला का चित्त आपके प्रति समर्पित हो जाये, जिसके चित्त की ग्रंथियाँ खुल जायें उसे ही चेला बनाओ। जो तुम्हारे पास आकर के तुम्हारे ही चित्त में गाँठ लगा दे ऐसे व्यक्ति को चेला

बनाने से कोई लाभ नहीं है। उसका भी कल्याण नहीं होगा और आपका भी। और साधु मिले चाहे घड़ी आधी घड़ी और भी कम समय के लिये ही मिले पर उनकी संगति करो, अन्यथा अकेले ही रहो। सज्जनों की संगति से वैसे ही लाभ होता है जैसे नदी किनारे बैठने से उसकी शीतल लहरों से देह का संताप दूर होता है। वृक्ष की छाया से धूप से तपे पथिक का शरीर शीतलता का अनुभव करता है, पुष्पों की सुगंधि से घ्राण सुगंधित हो जाती है। ऐसे ही सज्जन पुरुषों की संगति से मन आनंदित होता है, वाणी परिमार्जित व सुसंस्कारित होती है, शरीर सुचेष्टा करने में प्रवृत्त होता है इसीलिये सज्जन पुरुषों की संगति करें।

ये चार बातें क्लेश को दूर करने वाली और सुख को देने वाली हैं। दुष्टों से दूर रहें, मूर्खों से मौन रहें, ज्ञानीजनों से वार्ता करो, साधु–सज्जनों की संगति करो यही आत्मा के लिये श्रेयस्कर है। आप सब का कल्याण हो, श्रेय हो इन्हीं सद्भावनाओं के साथ....।।

।।श्री शांतिनाथ भगवान् की जय।।

।।जैनं जयतु शासनं–विश्वकल्याणकारकं।।

''दुर्लभता''

महानुभाव! यह सार्वभौमिक और सर्वविदित सिद्धान्त है जो व्यक्ति जिस वस्तु व्यक्ति आदि को अत्यंत महत्वपूर्ण मानता है, दुर्लभ मानता है उसका वह अच्छे से अच्छा सदुपयोग करने की सोचता है और वह उसकी विशेष सुरक्षा करने का भाव भी रखता है। जिसकी दृष्टि में जो चीज अति दुर्लभ है उसकी सुरक्षा पहले करता है। किसी के लिये धन दुर्लभ है तो धन को कई ताले लगाकर, चौकीदार–पहरेदार लगाकर सुरक्षा करता है। किसी के लिये तन दुर्लभ दिखाई देता है तो तन के बारे में सोचता है कहीं ये जीर्ण–शीर्ण न हो जाये, नष्ट न हो जाये। आरोग्य दुर्लभ दिखाई देता है तो उसकी सुरक्षा करता है। किसी के लिये वस्त्राभूषण दुर्लभ हैं तो वह उनकी सुरक्षा करता है। किसी के लिए महत्वपूर्ण और दुर्लभ यश–कीर्ति प्रतिष्ठा होती है तो वह उसकी सुरक्षा करता है कहीं उसकी यश–कीर्ति में दाग न लगे। मेरा यश कलंकित न हो जाये, प्रतिष्ठा खण्डित न हो जाये। कोई कुल को महत्वपूर्ण समझता है और उसकी सुरक्षा करता है मेरा कुल कलंकित न हो, मेरे कुल में ऐसा कोई पुत्रादि जन्म न ले जो मेरे कुल को दागी कर दे।

महानुभाव! संसार में दुर्लभ क्या है इस संबंध में अनेकों आचार्यों के अलग–अलग वक्तव्य हैं। किन्हीं आचार्यों ने कहा– **दुर्लभ है निगोद से थावर अरु त्रसगति पानी।** मंगतराय जी की बारह भावना में निगोद अवस्था से स्थावर में आना, त्रस पर्याय प्राप्त करना, पंचेन्द्रिय बनना उसमें भी मनुष्य बनना, उसके उपरांत कर्मभूमि का मनुष्य बनकर देशव्रतों व महाव्रतों की प्राप्ति होना, ये सब दुर्लभ कहा। ऐसे ही आप भी कह देते हैं कि इस पंचम काल में मुनि बनना बहुत दुर्लभ है। कोई कहता है गृहस्थ

जीवन में रहकर के अभिषेक–पूजन आदि का नियम निभा पाना मुश्किल है, कोई कहता है इस माहौल में शीलव्रत का पालन कर पाना बहुत दुर्लभ है, कोई कहता है आज इस परिवेश में अपने घर में शुद्ध खानपान बनाए रखना बड़ा मुश्किल है चौका लगा पाना बड़ा मुश्किल है। तो कोई कहता है व्रती बनकर घर में रहकर साधना करना बहुत कठिन है, दुर्लभ है। सबकी अलग–अलग व्याख्यायें हो सकती हैं, सबकी अलग–अलग धारणायें भी हो सकती हैं, सबके अलग–अलग विचार, मन्तव्य भी हो सकते हैं। किंतु यहाँ पर आचार्य महोदय दुर्लभता के संबंध में क्या कह रहे हैं–

'दुल्लहो णरदेहो य, सम्मत्तं अइ दुल्लहं
णाणं भत्ती य वेरग्गो, दया खमा वि दुल्लहा।।

आचार्य भगवन् कहते हैं– **'दुल्लहो णरदेहो'** इस मनुष्य देह की प्राप्ति दुर्लभ है। 84 लाख योनियों में यह मनुष्य का शरीर अत्यंत दुर्लभ माना है। चारो गतियों में मनुष्य गति, जिसमें भी कर्मभूमिज मनुष्य का शरीर जिसे प्राप्त करके संयम को साध सकता है धर्म का परिपालन कर सकता है। इतना ही नहीं रत्नत्रय की साधना करके मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इस कर्मभूमि के मनुष्य का शरीर इतना महत्वपूर्ण है यदि मुनि नहीं बने तो कम से कम मुनियों की सेवा करके आहारादि दान देकर के अनंतर भव में मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। तो मनुष्य पर्याय अत्यंत दुर्लभ है।

दुर्लभ शब्द का यदि शाब्दिक अर्थ देखें तो 'दुर्'–कठिन 'लभ'–प्राप्त होना, जो अति कठिनाई से प्राप्त होता है वह दुर्लभ है। और बड़ी कठिनाई से प्राप्त करने योग्य है यह मनुष्य पर्याय। पूर्व में अल्प आरंभ अल्पपरिग्रह रखा होगा, पूर्व में परिणाम सरल–सहज रखे होंगे, मार्दवयुक्त परिणाम रखे होंगे, पूर्व में

संतोषी जीवन जीया होगा, पूर्व में कषायों का उद्वेग शांत किया होगा, पूर्व में पापों से बचने की कोशिश की होगी इसीलिये मनुष्य पर्याय प्राप्त कर पाये। मनुष्य पर्याय प्राप्त करके भी यदि ये नहीं जान पाये कि इससे क्या करना चाहिये, तो प्राप्त मनुष्य पर्याय की दुर्लभता का सही मूल्य आपने वसूल नहीं किया। क्योंकि ये मनुष्य पर्याय दुर्लभ है इस बात को जानने वाले लोग भी बहुत दुर्लभ हैं, इस बात को सभी मनुष्य नहीं जानते।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जी ने कहा कि मनुष्य पर्याय में भी सारभूत और दुर्लभ अवस्था क्या है तो **'णाणं णरस्स सारो'** ज्ञान दुर्लभ है। यहां आचार्य महोदय कह रहे हैं **''सम्मत्तं अइ दुल्लहं''** मनुष्य पर्याय को प्राप्त करके सम्यक्त्व को प्राप्त करना अति दुर्लभ है। अन्यथा व्यक्ति इस मनुष्य शरीर को प्राप्त करके भोगों में डूब जाता है, सोचता है नरक में भोग भोगे नहीं, पशु पर्याय में पराधीन रहे, बंधन में पड़े रहे भोग भोगे नहीं, देवों में भी एक नियामक अवस्था थी, वहाँ स्वच्छन्द प्रवृत्ति नहीं कर सकते, अब मनुष्य पर्याय मिली है तो खूब भोगों को भोगो। तो वे व्यक्ति जो भोगों में आकण्ठ डूबे हैं, समझो सम्यक्त्व से अति दूर हैं। सम्यग्दृष्टि जीव भोगों में कभी आकण्ठ नहीं डूबता, सम्यग्दृष्टि जीव अन्याय अनीति का कभी सेवन नहीं करता, सम्यग्दृष्टि जीव कभी अभक्ष्य पदार्थों का सेवन नहीं करता। सम्यग्दृष्टि की प्रवृत्ति आत्मोन्मुखी होती है, बहिर्मुखी नहीं होती। सम्यग्दृष्टि पर पदार्थों से विरक्त होता है और ज्यों–ज्यों विरक्ति बढ़ती जाती है त्यों–त्यों छोड़ता चला जाता है। सम्यग्दृष्टि आत्महित में प्रवृत्ति करते हैं कदाचित् आत्महित में प्रवृत्ति नहीं कर पायें तब आत्महित की भावना नियम से रखते हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि सम्यग्दृष्टि हो और उसकी आत्महित की भावना न हो।

'सम्मत्तं अइ दुल्लहं' सम्यक्त्व अति दुर्लभ है। पंचम काल में तो सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले निमित्त भी अति दुर्लभ हैं। चौथे काल में तो तीर्थंकर आदि का सान्निध्य मिलता है उनका समवशरण, सामान्य केवली की गंधकुटी, मनःपर्यय ज्ञानी मुनिमहाराज होते हैं, श्रुतकेवली, अवधिज्ञानी, ऋद्धिधारी मुनिराज, आदि–आदि बहुत निमित्त थे किन्तु आज इस आर्यखण्ड में अभी मुनिमहाराज हैं, इससे पूर्व काल में तो इनसे भी कम मुनिराज थे, आगे आने वाले काल में भी संभव है मुनिमहाराज की संख्या घटेगी ही। जितनी पिच्छियाँ आज वर्तमान काल में हैं अभी ये ग्राफ बढ़ता नहीं घटता हुआ है, श्रावकों की संख्या भी घट रही है। चाहे भले ही आपके पैमाने के अनुसार बढ़ रही हो किन्तु अभी श्रावकों की संख्या घट रही है। श्रावकत्व से सहित श्रावक कम हैं हो सकता है गृहस्थ जीवन में गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले श्रावक अधिक हों।

सम्यक्त्व प्राप्त करना कठिन है, सम्यक्त्व की भूमिका देव–शास्त्र गुरु के निमित्त से बनती है, कषाय की मंदता से सम्यक्त्व की भूमिका तैयार होती है। मिथ्यात्व का मंद उदय हो तब मिथ्यात्व को दबाया जा सकता है। मिथ्यात्व के तीव्र उदय में मिथ्यात्व को नहीं दबाया जा सकता है। यहाँ यही बताया कि सम्यक्त्व अति दुर्लभ है और पुनः कहा–**''णाणं भत्ती य वेरग्गो''** सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति अति दुर्लभ है। व्यक्ति का मन नहीं लगता समीचीन ज्ञान को प्राप्त करने में। समीचीन शास्त्रों के स्वाध्याय में उसका मन नहीं लगता। उसका तो मन लगता है टी.वी. को खोलकर कुछ चटपटा देखने में, मोबाइल खोलकर कुछ अन्य–अन्य देखने या अनावश्यक चर्चा करने में, दूसरों की निंदा करने में, स्वयं की प्रशंसा सुनने में उसका मन लग जाता है किंतु समीचीन शास्त्रों के स्वाध्याय करने में मन नहीं लगता।

हाँ ये तो होता है कि शास्त्रों के प्रति उनका लोभ तो होता है। जहाँ शास्त्रों का वितरण हो रहा हो वहाँ सबसे पहले आगे हाथ बढ़ा देंगे किन्तु वे शास्त्र घर में रखे रहेंगे साल–साल भर हो जाती हैं उन्हें हाथ भी नहीं लगाते। और ज्यादा हुआ तो दीवाली पर सफाई हुयी तो घर से उठाकर मंदिर में रख दिये। किंतु वे प्राणी विरले हैं जिनके पास जिनेन्द्र प्रभु की वाणी को स्वाध्याय के माध्यम से सुनने का समय है। जिनके पास जिनेन्द्र भगवान् को जानने का समय है, जिनके पास अपनी आत्मा को पहचानने का समय है, जिनके पास आत्मा को परमात्मा बनाने की विधि जानने का समय है।

यहाँ कह रहे हैं जिसके पास स्वाध्याय का समय है वह तो पुण्यात्मा है ही साथ ही जो जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति करने के लिये तत्पर है वह अपनी मनुष्य पर्याय को सफल और सार्थक कर सकता है। स्वाध्याय के माध्यम से चित्त को एकाग्र किया, प्रभु भक्ति के माध्यम से आत्मा में आनंद का स्रोत ही उद्घाटित किया, ऐसा लगा जिनेन्द्र भगवान् की मूर्ति देखकर के कि हमारे अंदर भी एक आनंद का स्रोत फूट पड़ा हो वह व्यक्ति भी दुर्लभ है। और दुर्लभ क्या है–**'वेरग्गो'** वैराग्य। जो व्यक्ति स्वाध्याय करते हैं, पंचपरमेष्ठी की भक्ति करते हैं, सेवा वैय्यावृत्ति करते हैं और वैराग्य का संपोषण करते हैं वे व्यक्ति संसार में बहुत कम हैं, बहुत दुर्लभ हैं। ऐसे व्यक्ति दुर्लभ हैं जिन्हें संसार–शरीर–भोगों से विरक्ति हो, ऐसे व्यक्ति दुर्लभ हैं जिन्हें पापों से विरक्ति है, दुर्भावों से विरक्ति है, दुर्जनों, दुर्भावनाओं से विरक्ति है, जो अपने ही खोटे परिणामों से विरक्त हैं, ऐसे व्यक्ति बहुत कम हैं।

समीचीन शास्त्रों की सन्निधि में स्वाध्याय की प्रेरणा मिलती है तो जिनेन्द्र भगवान् पंचपरमेष्ठी की संगति में भक्ति की प्रेरणा मिलती है, दिगम्बर साधुओं की संगति में वैराग्य पुष्ट होता है। ये सब मिल पाना बहुत दुर्लभ है।

आगे कह रहे हैं **''दया खमा विदुल्लहा''** आज इस माहौल में व्यक्ति अपनी सुरक्षा करने में लगा है, दूसरों की सुरक्षा करने का ख्याल किसे है। हो सकता है जो पुण्यात्मा हो, राजपद पर आसीन हो उसकी सुरक्षा का भाव आ जाये किंतु प्रत्येक आत्मा की रक्षा करने का भाव किसके मन में पैदा होता है? जिसके मन में पैदा हो रहा है वही भविष्य का परमात्मा है।

''जैसे बिन पंछी के घोंसला अधूरा सा लगता है
वैसे ही अगर दिल में दया न हो तो
सोने का दिल भी छोटा–सा लगता है।''

दया भावना दुर्लभ है। यदि कोई आपको अपशब्द बोल दे तो तुरंत ही परिणाम खराब हो जाते हैं, उसके प्रति बुरे–बुरे भाव होने लगते हैं। कोई आपको मारे–पीटे उसके प्रति बहुत कषाय उमड़कर आती है, इतना ही नहीं उसका घात करने का भाव भी मन में आ जाता है, दया–करुणा नष्ट हो जाती है किन्तु जिस व्यक्ति ने धर्म को, धर्म के मर्म को जाना है, समझा है उसके चित्त में दया का स्रोत बहता है। वह एकेन्द्रिय जीव को भी कष्ट देना नहीं चाहता, विकलेन्द्रिय को भी नहीं। जंगल में सर्दी–गर्मी में जानवरों को भूखा–प्यासा तड़पता देखता है तो उसका मन चित्त दया से पिघलने लग जाता है, मन में अनुकंपा का भाव प्रकट होता है, अंदर से करुणा का झरना फूट पड़ता है। किंतु ये दया–करुणा अंदर से निःसृत होना बड़ा दुर्लभ है।

दुर्लभ ये नहीं है कि कोई लाखों कमाले, पद–प्रतिष्ठा प्राप्त कर ले, या दुर्लभ ये नहीं है कि वह रूपवान् बन जाये, दुर्लभ तो ये है कि उसके चित्त में सम्यक्त्व का, ज्ञान का, भक्ति का, वैराग्य का झरना फूट पड़े। दुर्लभ ये है उसके नेत्रों से करुणा का जल बरसता रहे। और पुनः अंत में कहा सबसे ज्यादा दुर्लभ

है 'खमा विदुल्लहा'' क्षमा भाव अत्यंत दुर्लभ है। स्वयं के द्वारा कभी गलती हो जाने पर दूसरों से क्षमा माँग लेना एक बार सरल है। मैंने किसी को कष्ट दिया मेरी आत्मा स्वीकार कर रही है तो हो सकता है वह उसके पास पहुँचकर हाथ जोड़कर क्षमा माँग ले। ऐसे व्यक्ति भी कम हैं, पर ऐसे व्यक्ति ज्यादा हैं जो ईंट का जवाब पत्थर से दे दें। उसने मुझे अपशब्द कहा मैं भी कहूँगा। जैसा दुर्व्यवहार उसने किया मैं भी वैसा ही करूँगा किंतु ऐसे व्यक्ति तो वास्तव में बहुत कम हैं जिन्होने आपको कष्ट दिया हो और आप उसे अंतरात्मा से क्षमा कर दें केवल क्षमा ही नहीं, उसके प्रति अच्छी भावना भी रखें। जो जीव अपना अहित चाह रहा है, अहित कर रहा है उसके प्रति भी हित की भावना, कल्याण की भावना उसके अपराधों को क्षमा करते हुये अपने चित्त को निर्मल कर लेना बहुत दुर्लभ है।

आचार्य महोदय ने इन सभी को दुर्लभ बताया। मनुष्य देह, सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्भक्ति, वैराग्य, वैराग्य से युक्त चारित्र, दया रुप अहिंसामय भाव जिसमें सभी व्रत समाहित हो जाते हैं। और पुनः व्रत–तप–ध्यान का सार उत्तमक्षमा जिसके अंदर विराजमान है वही भगवान् है। आप सभी इन दुर्लभ बातों को जानें समझें व अपनी आत्मा में प्रकट करने की कोशिश करें, सम्यक् पुरुषार्थ करें। किसान अपने खेत में उत्तम बीज बोना चाहता है, झाड़ झंकड़ नहीं वैसे ही आप अपनी आत्मा में उत्तम गुणों को प्रकट करने के लिये पुरुषार्थशील हों ऐसी हम आपके प्रति मंगल भावना रखते हैं, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ.....।।

।।श्री शांतिनाथ भगवान् की जय।।
।।जैनं जयतु शासनं–विश्वकल्याणकारकं।।

अनित्यानि शरीराणि

महानुभाव! जीवन अध्रुव है, जिस तरह ओस की बिंदु घास आदि के तिनके पर दिखाई तो देती है किंतु जैसे ही सूर्य का प्रताप वृद्धि को प्राप्त होता है देखते ही देखते वह ओस बूँद नष्ट हो जाती है। जिस प्रकार आकाश में दिखाई देने वाला इंद्रधनुष कुछ देर के लिये दिखाई देता है कब नष्ट हो जायेगा इसे कोई नहीं जानता। अथवा आकाश में चमकती हुयी बिजली दिखाई तो देती है किंतु वह देखते ही देखते विलय को प्राप्त हो जाती है। इसी तरह संसारी प्राणियों का जीवन है, संसारी प्राणियों का जीवन दिखता तो है किंतु भरोसा नहीं किया जा सकता। बढ़ती हुयी आयु इस बात का प्रतीक नहीं कि वह व्यक्ति वृद्धि को प्राप्त हो रहा है, बढ़ती हुयी आयु इस बात का प्रतीक है कि उसका आयु कर्म शनैः–शनैः नष्ट हो रहा है। आयु कर्म की गति संभव है हवा और मन की गति से भी ज्यादा है।

पर्वत से गिरती हुयी नदी को मध्य में रोकना कठिन होता है, ऐसे ही आयु कर्म के निषेक जब गलित होते हैं तब उन्हें बीच में रोक पाना असंभव होता है। कोई भी व्यक्ति आयु कर्म के निषेकों को रोककर के नहीं रख सकता कि निषेक आज नहीं तो बाद में उदय में आ जायें। आयु को बढ़ाया तो नहीं जा सकता भुज्यमान आयु जितनी है उतनी ही रहती है उसका बीच में घात संभव है। जो जीव असंख्यात वर्ष की आयु के होते हैं वे मनुष्य और तिर्यंच देव और नारकी इसके साथ–साथ चरमोत्तम शरीर वाले महापुरुष इन प्राणियों की आयु का घात मध्य में नहीं होता।

औपपादिक–चरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।।

ये अपनी आयु को पूर्ण भोगते हैं। किंतु कर्मभूमि का सामान्य मनुष्य और तिर्यंच अपनी पूर्णायु को भोग पाये या नहीं यह

नियामक नहीं है। वह अपनी आयु को पूर्ण भोग भी सकता है और उसकी आयु बीच में छिद भी सकती है। क्योंकि संसारी प्राणी को जीने के लिये दस प्राणों की आवश्यकता होती है। निश्चय में ज्ञान चेतना–दर्शन चेतना ये प्राण होते हैं व्यवहार में कम से कम 4 प्राण होते हैं। इंद्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। किंतु अधिक से अधिक व्यवहार में दस प्राण होते हैं पाँच इंद्रिय, तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु।

आयु कर्म का उदय जब चल रहा है तब तक वह जीव जी रहा है तब तक उस जीव के लिये निमित्त बनता है श्वासोच्छ्वास' श्वासोच्छ्वास के रुकते ही आयु कर्म के निषेक अन्तर्मुहुर्त में क्षीण हो जाते हैं अथवा पंचइंद्रिय और तीन बल इनमें से किसी का घात हो जाने से जब आत्मा के प्रदेश उसमें रहने में असमर्थ होते हैं तब भी उस जीव की आयु का घात हो जाता है। आयु के निषेक पूर्ण हो जाने पर चाहे पाँचों इंद्रिय अविकल रहें, चाहे बल भी अविकल रहे, श्वासोच्छ्वास करने का पूरा सामर्थ्य भी बना रहे, तब भी जीव आयु कर्म के रहते हुए ही जी पाता है किंतु आयु का खण्डन होते ही शरीर कितना भी अनुकूल हो, स्वस्थ हो, निरोगी हो, श्वासोच्छ्वास लेने में भी समर्थ है फिर भी वह जीव जी नहीं सकता।

आयु कर्म के रहते भी कई बार व्यक्ति श्वांस लेने में असमर्थ होता है तो जब वह स्वयं श्वांस नहीं ले पा रहा तो उसे वेन्टीलेटर पर रख देते हैं, श्वांसनली उसके फेंफड़ों तक डालकर के उसे श्वांस दिलाते हैं जिससे वह जीता है। यानि व्यक्ति की यह हालत हो गयी कि स्वतः श्वास लेने व छोड़ने में असमर्थ है। कई बार उसका कंठ इतना अवरुद्ध हो जाता है कि वह भोजन आदि ग्रहण करने में असमर्थ हो जाता है, तब अन्य प्रकार के माध्यमों से उसके उदर में भोजन पहुँचाया जाता है।

कई बार जब वह मल आदि का त्याग करने में असमर्थ होता है तब नली आदि लगाकर उसके मल का परित्याग कराया जाता है। अथवा शरीर में जो भी अवयव हैं या इसको संचालन करने वाले तंत्र हैं उसमें कहीं गड़बड़ हो जाने से कभी किडनी, कभी लिवर, कभी हृदय यदि वह सुचारु रूप से काम नहीं कर रहा है तब भी आयु कर्म निर्जीण हो जाता है उसके निषेक झर जाते हैं। वर्तमान काल में किसी भी व्यक्ति का आयु कर्म कभी भी नष्ट हो सकता है आयु के निषेक कभी भी गल सकते हैं। नष्ट होने से यहाँ आयु कर्म का पूर्ण क्षय नहीं मानना चाहिये भुज्यमान आयु के निषेकों का पूरा निर्जीण होना मानना चाहिये। क्योंकि इस पंचमकाल में कोई भी असंख्यात वर्ष की आयु वाला नहीं है। असंख्यात वर्षों की आयु वाले तो भोगभूमि में होते हैं, प्रथम द्वितीय, तृतीय काल में उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमि में।

इस पंचम काल में मनुष्य–तिर्यंचों में कोई देव या नरकायु से युक्त नहीं है और ना ही चरमोत्तम शरीर को धारण करने वाला है क्योंकि ये ही अपनी पूर्णायु भोगते हैं इनके अतिरिक्त अन्य जीवों का पूर्णायु भोगने का कोई भी नियम नहीं है।

वर्तमान काल में जितने भी मनुष्य और तिर्यंच हैं पाँच भरत व पांच ऐरावत क्षेत्रों में उनमें से किसी की आयु के बारे में ये नहीं कहा जा सकता कि ये जीव अपनी पूर्ण आयु भोगकर ही मृत्यु को प्राप्त होगा। उसकी आयु मध्य में कभी भी छिद सकती है, आयु रूपी शाखा कभी भी टूट सकती है।

क्रमशः आयुरूपी शाखा को काटने वाले दिन–रात या कृष्ण–शुक्ल पक्ष रूपी चूहे हैं वे निरंतर काट रहे हैं। उनके काटने से आयु रूपी शाखा कटे और जीव मृत्यु को प्राप्त हो किन्तु इसके पहले ये संभव है कि हवा का झोंका आये, तूफान

आये और शाखा टूट जाये। अर्थात् कर्मभूमि के मनुष्य व तिर्यंच की अकाल मृत्यु भी संभव है। इसलिये यहां कहा–

अनित्यानि शरीराणि, विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः, कर्त्तव्यो धर्मसंग्रहः।।

आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी जी कह रहे हैं, जितने भी शरीर धारी जीव हैं उन सभी के शरीर अनित्य हैं। किसी भी संसारी प्राणी का, किसी भी शरीरी का, देहधारक का शरीर नित्य नहीं होता चाहे वह महापुरुष ही क्यों न हो, उन्हें भी अपने शरीर का परित्याग करना पड़ता है। या तो वह महापुरुष शरीर का परित्याग करके अशरीरी सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है। यदि वह सभी कर्मों को क्षय करने में समर्थ नहीं है तब उसे आगे वैक्रियक आदि शरीरों को प्राप्त करना होता है, औदारिक आदि शरीर प्राप्त करता है। किंतु शरीर कोई भी हो यहाँ तक कि अनादिकाल से आत्मा के साथ लगे कार्माण शरीर और तैजस शरीर हैं वे भी शाश्वत व नित्य नहीं हैं भव्य जीव के शरीर भी नष्ट हो जाते हैं। इन शरीरों की भी स्थिति है उनके प्रदेश, पुद्गल वर्गणायें निर्जीण होती हैं नूतन–नूतन कर्मों का बंध होता है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी संसारी प्राणियों को अत्यंत सरल भाषा में समझा रहे हैं। सभी शरीर अनित्य हैं जैसे सिद्ध अवस्था नित्य है वैसे नित्य संसारी दशा नहीं है। सिद्ध कभी भी सिद्धालय से लौटकर संसार में नहीं आयेंगे उनका कभी भी जन्म–मरण नहीं हो सकता, वे कभी भी शरीर को प्राप्त नहीं कर सकते, वे कभी भी कर्म का बंध नहीं कर सकते उनकी वह दशा शाश्वत है, सत्य है, नित्य है वैसी नित्य दशा संसारी प्राणी की नहीं हो सकती।

शरीर चाहे स्थावर जीवों का हो या विकलत्रय जीवों का, असंज्ञी पंचेन्द्रिय का हो या संज्ञी पंचेन्द्रिय का हो, चाहे नरपुंगव कहलाने वाले चक्रवर्ती, कामदेव, बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण,

कुलकर का हो, चाहे वह शरीर स्वर्ग के अधिपति कहलाने वाले इन्द्र–प्रतीन्द्रों का हो, चाहे नागेन्द्र आदि का हो, चाहे ज्योतिष ग्रह के इन्द्र आदि का शरीर हो, किसी का भी शरीर को अत्यंत कांतिमय, सुंदर, सुभग, शुभ नामकर्म से युक्त भी है तब भी वह शरीर निर्जीण होता जरूर है। उस शरीर को अनंतकाल तक रखा नहीं जा सकता, बचाया नहीं जा सकता, क्योंकि उस शरीर की नियति नष्ट होना ही है। वह शरीर जो बना है वह पुद्गल के प्रचय से बना है, पुद्गल का स्वभाव होता है पूरण और गलन, शरीर बनता है तो मिटता भी है। जो–जो संसार में पुद्गल के द्वारा बना है वह एक दिन मिटेगा जरूर। इसीलिये आचार्य भगवन् संसारी प्राणियों को समझाते हुये संबोधन दे रहे हैं कि शरीर में रति मत करो, शरीर में आसक्त मत होओ, यह शरीर आपका है या किसी रंक का है या किसी नृप का है सबका शरीर छूट जायेगा इसलिये उत्तम बात यही है कि जब तक ये शरीर छूटे उससे पहले अपने शरीर को सार्थक कर लो। उस शरीर को जिस प्रयोजन के लिये प्राप्त किया है पूर्व पुरुषार्थ से उस प्रयोजन को सिद्ध करने में ही तुम्हारी बुद्धिमानी है यही विवेकशीलता है।

जो व्यक्ति वस्तु को प्राप्त करके उस वस्तु के वस्तुत्वगुण अर्थात् अर्थक्रिया को, प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर पाते हैं उनका वह वस्तु प्राप्त करना, न करना बराबर ही है। जैसे किसी क्षुधातुर मजदूर ने पेट भर भोजन प्राप्त करने के लिये दिन भर श्रम किया उसे मजदूरी में भोजन मिला, अब भोजन भी सामने रखा है किंतु यदि वह व्यक्ति भोजन का दुरुपयोग करे स्वयं ग्रहण न करके गंदगी में डाल दे तो विवेकी व्यक्ति कहेगा तुमने भोजन का सदुपयोग नहीं किया, दुरुपयोग हो गया, इससे तो तुम भोजन प्राप्त नहीं करते तो किसी और के काम आ जाता।

भोजन की सार्थकता तो तब थी जब भोजन ग्रहण कर तुम अपनी क्षुधा को शांत कर लेते। या ऐसे व्यक्ति को दे देते जो तुमसे भी ज्यादा क्षुधा से पीड़ित था तो उसका सदुपयोग माना जा सकता था किंतु आपने उसका दुरुपयोग किया है। जो कोई भी व्यक्ति वस्तु का दुरुपयोग करता है संभव है आगे वह उस प्रकार की वस्तु प्राप्त नहीं कर पाता।

ये शरीर हमने और आपने प्राप्त किया है, इस शरीर से हम क्या प्रयोजन सिद्ध कर सकते हैं, इस शरीर के माध्यम से क्या–क्या कार्य सिद्ध कर सकते हैं जो अन्य शरीर से सिद्ध नहीं किये जा सकते। जो देव, नारकी, तिर्यंच के शरीर से सिद्ध नहीं किया जा सकता ऐसा कौन सा कार्य है जिसे मनुष्य ही कर सकता है। तो वह है संयम परिपालन। संयम की साधना मनुष्य शरीर से ही की जा सकती है। तप–आराधना, साधुओं की सेवा–वैय्यावृत्ति, भक्ति–पूजा–पाठ, आहारादि दान की प्रवृत्ति मनुष्य शरीर को धारण करके ही संभव है। देव–नारकी वैक्रियक शरीर के माध्यम से आहार दान की प्रवृत्ति या संयम की साधना संभव नहीं है। इसीलिये आचार्य महोदय के भाव हैं कि यह शरीरादि जब अनित्य है तब इन शरीरों को सार्थक करो। इन शरीरों को प्राप्त कर श्रेष्ठतम प्रयोजन को सिद्ध करना चाहिये।

द्वितीय बात आचार्य महोदय कह रहे हैं–''विभवो नैव शाश्वतः'' जो भी वैभव आपके पास वर्तमान काल में है, पुण्योदय से आपको जो भी विभूति प्राप्त हुयी है निधि, पौद्गलिक धन–सम्पत्ति जो कुछ भी प्राप्त हुयी है अथवा रहने के लिये मकान प्राप्त हुआ, क्षुधा को शांत करने के लिये भोजनादि सामग्री प्राप्त हुयी है या वस्त्र–वाहन अथवा जो भी साधन आपके पास हैं वे भी शाश्वत नहीं हैं इसलिये क्या करें? उसका सदुपयोग करें। भवन है तो उसे बनाकर इसलिये तैयार नहीं किया कि

बाहर से ताला लगाकर छोड़ दिया कि जब तक जीर्ण–शीर्ण होकर अपने आप गिर न जाये, इससे तो भवन की सार्थकता नहीं है। धन इसलिये नहीं कमाया है कि जमीन में गड्ढा खोदकर दबा दें या बैंक में जाकर जमा कर दे कि जब मेरी मृत्यु होगी तब जिसे लेना होगा वह ले ले। या और भी भोगोपभोग की सामग्री जो आपने प्राप्त की है वह दुरुपयोग करने के लिये नहीं सदुपयोग करने के लिये प्राप्त की है।

भवन बनवाया जिसमें आप रहें, यदि अतिरिक्त स्थान है तो अन्य साधर्मी भाई–बंधुओं को या धर्मात्मा आ जायें तो उन्हें स्थान दें क्योंकि यदि आपने उन्हें स्थान दिया है तो संभव है आपके द्वारा बसतिका दान देने से आगे आने वाले भव में आपको सुंदर–सुंदर भवन मिलें, विमान मिलें और हो सकता है वह पुण्य आपको आगे कई भवों तक मिले। आपने यदि जल दिया है, अन्य जीवों की प्यास बुझायी है तो संभव है आपको आगे आने वाले भव में अमृत मिले जो कंठ से निःसृत हो। देवों के कंठ से अमृत निःसृत होता है। आपने यदि भोजन दिया दूसरे भूखों को भोजन कराया तो संभव है उस भोजन के बदले आपको अनेक नाना प्रकार के व्यंजन मिष्ट फल प्राप्त हों, अमृतोपमा आहार की प्राप्ति हो, दस प्रकार के कल्पवृक्ष के द्वारा अनेकविध भोग सामग्री की प्राप्ति हो।

इसीलिये आचार्य महोदय ने कहा–**विभवो नैव शाश्वतः** यह वैभव शाश्वत नहीं है। कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं है। आपके पास जितनी भी साधन सामग्री है, चाहे वह आपके पास रखी है या मकान–दुकान में रखी है, जहाँ–कहीं भी है वह शाश्वत नहीं है नष्ट हो जायेगी। उस वस्तु के नष्ट होने से पहले उस वस्तु का मूल्य वसूल कर लो। मूल्य वसूल कैसे होता है? जिस उद्देश्य से वस्तु को प्राप्त किया है उस कार्य को सम्पन्न कर लो उसमें ही उसका मूल्य–वसूल हो जाता है।

एक व्यक्ति को पशुओं की भाषा समझ में आती थी। एक दिन वह अश्वशाला में गया, वहाँ उसका उत्तम जाति का अश्व भी था वह आपस मे चर्चा कर रहे थे कि तीन दिन की जिंदगी रह गयी है। उस अश्व को ऐसा अपनी आयु के विषय में आभास हुआ था। उस व्यक्ति ने सुना कि अश्व की मात्र तीन दिन की जिंदगी रह गयी है, उसने घोड़े को लेकर बेच दिया और देखा कि तीन दिन बाद वह मृत्यु को प्राप्त हो गया। उस व्यक्ति ने सोचा मैंने बहुत अच्छा किया ये उत्तम जाति का घोड़ा था मूल्य वसूल हो गया अन्यथा मेरे यहाँ मृत्यु होती तो मुझे इसका मूल्य नहीं मिलता।

इसी तरह एक दिन उसने हाथी की आवाज सुनी, फिर किसी दिन गाय की आवाज सुनी, पुनः बैल की आवाज सुनी वह उसी प्रकार उन्हें बेचता रहा और मूल्य वसूल करता रहा। एक दिन वे पशु आपस में चर्चा कर रहे थे कल शाम तक सूर्य अस्त होने से पहले, हमारा जो यह मालिक है वह मृत्यु को प्राप्त हो जायेगा। अब तो वह घबराने लगा मैं क्या करूँ, मैंने अन्य जानवरों को बेचकर तो मूल्य प्राप्त कर लिया उनकी मृत्यु होने पर मुझे दुःख नहीं हुआ। किन्तु अब मैं मृत्यु को प्राप्त हो जाऊँगा, मैं क्या करूँ?

उसे लगा अब मैं तो अपने आप को बेच नहीं सकता क्या करूँ, वह मुनिमहाराज के पास जाता है उन्होंने कहा–भैया अपने शरीर के मूल्य को वसूल करने का एक ही तरीका है कि इस शरीर के साथ वही व्यवहार करो जो साधु करते हैं, अर्थात् विरक्त भाव। संयम को स्वीकार करो, यह शरीर तप करने, संयम साधना करने के लिये प्राप्त हुआ है। वह व्यक्ति दीक्षा ग्रहण कर साधना करना शुरू कर देता है और अपने नरभव का मूल्य वसूल कर लेता है। तो यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं शरीर अनित्य है, वैभव भी शाश्वत नहीं है।

'नित्यं सन्निहितो मुत्युः'। मृत्यु प्रतिक्षण निकट आती जा रही है वह चोटी पकड़कर खडी है, वह कभी भी उठाकर लेकर जा सकती है। क्योंकि मृत्यु कहीं बाहर ने नहीं आती, हमारी आत्मा के प्रदेशों में ही मृत्यु विद्यमान है। जब तक आयु कर्म है तब तक हम जी रहे हैं, आयु कर्म के पूर्ण होते ही इस शरीर को छोड़ना पड़ता है इसीलिये श्रेष्ठ कार्य यही है कि **''कर्तव्यों धर्म संग्रहः''** निरंतर धर्म का संग्रह करना चाहिये। धर्म ही प्राणी मात्र के कल्याण में निमित्त है। आप सभी का मंगल हो, शुभ हो इन्हीं भावनाओं के साथ.....।।

।।श्री शांतिनाथ भगवान् की जय।।

।।जैनं जयतु शासनं–विश्वकल्याणकारकं।।

''सारभूत वस्तु ग्रहणीय''

महानुभाव! संसार अनंत है। किन्हीं मनीषियों ने संसार को सागर की उपमा दी है, किन्हीं मनीषियों ने संसार को जंगल की उपमा दी है, कोई मनीषी संसार को अग्नि कुण्ड कहते हैं तो अन्य–अन्य विद्वान् इस संसार को माया जाल कहते हैं, सबकी अपनी अलग–अलग अपेक्षायें और दृष्टियाँ हैं। यह अनंत संसार, निस्सीम संसार जिसमें अनादिकाल से अनंतजीव परिभ्रमण कर रहे हैं जन्म लेते हैं–मृत्यु को प्राप्त करते हैं, पुनः जन्म व मृत्यु को प्राप्त करते हैं यह श्रृंखला अनादिकाल से आज तक अनवरत चली आ रही है। इस श्रृंखला में आज तक विग्रह नहीं हुआ एक क्षण का भी नहीं, एक समय का भी नहीं। एक बार विग्रह पड़ जाये तो यह श्रृंखला पुनः प्रारंभ नहीं होगी।

इस अनंत संसार को कैसे पार किया जाये? कोई आचार्य मनीषी कहते हैं भक्ति रुपी नौका का आश्रय लेकर इस संसार सागर से पार हो सकते हैं। कोई कहते हैं इस संसार कूप में पड़े व्यक्ति को रज्जू की तरह से अपनी आत्मा का ही अवलम्बन लेना चाहिये तभी इस भवकूप से निकल सकता है। कोई कहते हैं ज्ञान रूपी अग्नि से कर्म रूपी ईंधन को जला दें तो मुक्ति हो सकती है। कोई आचार्य महोदय कहते हैं अंधकार से आवृत इस गहन संसार रूपी वन में सम्यग्ज्ञान का प्रकाश न हो तो इससे पार होना कठिन है। अत्यंत दुस्तर है यह भव। दुस्तर का आशय कठिनाई से तरने के योग्य है किन्तु असंभव नहीं, इसे पार किया जा सकता है। पार करने के लिये अनेक प्रकार के मार्ग प्रतिपादित हैं, अनेक दृष्टियाँ हैं। कोई व्यक्ति ऐसा भी हो सकता है जो भक्ति करते–करते अपनी आत्मा में डूबा हो, कोई हो सकता है ध्यान के माध्यम से पार हुआ हो, कोई योगी ज्ञान में प्रवृत्ति करके ज्ञान में डूब गया और पार हो गया।

क्या करें जिससे ये जन्म–मरण का चक्र, यह भवभ्रमण की श्रृंखला टूट जाये। जानने के लिये हमारे पास समय कम है कोई कहता है प्रथमानुयोग का स्वाध्याय करो, कोई कहता है चरणानुयोग उपयोगी है, कोई कहता है द्रव्यानुयोग ही श्रेयस्कर है, तो कोई कहता है कि करुणानुयोग से सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ कोई दिखाई ही नहीं देता है। अब एक–एक अनुयोग में अनेक शास्त्र हैं, वर्तमानकाल में अनेक धर्माचार्य हैं उन सभी धर्माचार्यों की व्याख्यायें एक जैसी होने के बावजूद भी उनमें कुछ न कुछ तो विशेषता मिलती ही है, अब उन सबको पढ़ पाना बड़ा असंभव है। कठिन होता तो कोई वहाँ पहुँच जाता किंतु असंभव ही है। आचार्य महोदय कहते हैं–

अनंत शास्त्रं बहुलाश्च विद्या, अल्पश्च कालो बहुविघ्नताश्च यत्सारभूतं तदुपासनीयं, हंसो यथा क्षीर मिवाम्बुमध्यात्।।

शास्त्र अनंत हैं, अंतहीन हैं पढ़ते जाओ, पढ़ते जाओ यह संभव नहीं कि व्यक्ति सभी शास्त्रों को पढ़कर पारंगत हो सके। एक जीवन में एक प्रकार का शास्त्र भी पूरा नहीं पढ़ा जा सकता, विद्यार्थी बचपन से पढ़ना शुरु करता है और पढ़ते–पढ़ते बेचलर होता है, मास्टर होता है उसके बाद विद्यावारिधी की उपाधि प्राप्त करता है और उसके उपरांत भी आगे पढ़ता है तो भी वह यह कहता है कि मैंने जो खोज की, जो जाना–सीखा इसके आगे और भी बहुत कुछ है। शोध एक विषय पर करता है तो कहता है कि इसके आगे और भी शोध करना अपेक्षित है। ये पूर्ण नहीं है और एक–एक विषय पर पचासों व्यक्ति PHD करते हैं और नया–नया विषय सामने लाते हैं। विषय को जानने–समझने में सैकड़ों व्यक्ति सैकड़ों वर्ष भी लगा देते हैं तब भी उस विषय को स्पष्ट करने में समर्थ नहीं हो पाते हैं।

वर्तमान काल में संख्यात प्रकार के शास्त्र हैं आध्यात्मिक शास्त्र, भौतिक शास्त्र, न्यायशास्त्र, नीतिशास्त्र, कलाशास्त्र, रसायन शास्त्र, आयुर्वेद शास्त्र, लोकमर्यादा के शास्त्र, आजीविका उपार्जन के शास्त्र, सिद्धान्त शास्त्र, कर्म सिद्धान्त शास्त्र या अन्य–अन्य प्रकार के कितने ही शास्त्र हैं। आयुर्वेद में देखें तो अनेक विभाग हैं, रसायन में देखो तो अनेक प्रकार के रसायन के विभाग हैं, तो उन सभी शास्त्रों को कैसे जाना जा सकता है, शरीर चिकित्सा पूरी नहीं जानी जा सकती, वाणी के संबंध में देखें तो अनेक शास्त्र हैं, मन के संबंध में भी अनेक शास्त्र हैं, शरीर के संबंध में अनेक प्रकार की व्याख्यायें हैं, आत्मा के संबंध में सूक्ष्म व्याख्या करने वाले भी बहुत शास्त्र हैं। सदाचार और नीति के शास्त्र भी बेशुमार हैं।

व्यक्ति सोचता है मैं शास्त्रों को कब–कैसे–कहाँ पढ़ूँ। एक राजा न्यायपूर्वक अपने राज्य का संचालन करता था किंतु वह किसी धर्म विशेष को मानने वाला नहीं था। क्योंकि राजा का कोई एक धर्म हो ही नहीं सकता। प्रजा जिस धर्म को स्वीकार करती है राजा को उस धर्म का प्रतिनिधित्व करना ही होता है। चाहे उसकी श्रद्धा कहीं भी हो यह बात अलग है। अधिकाशतः ऐसा भी होता है कि राजा जिस धर्म को मानने लगे तो प्रजा भी उसका अनुगमन करने लगती है। किंतु राजा भी एक नहीं रहता, राजा भी शाश्वत नहीं रहता, उसकी मृत्यु हुयी दूसरा राजा आया, वह दूसरे धर्म को मानने वाला है तो ऐसे तो प्रजा धर्म को ही बदलती रहेगी, इसीलिये प्रजा अपने जिस धर्म को निष्ठा के साथ मानती है राजा को प्रत्येक धर्म के अनुसार उसका संचालन व संवाहन करना होता है और उसका संरक्षण भी करना होता है।

राजा से पूछा–महाराज! आप कौन सा धर्म मानते हैं, राजा ने कहा–ये धर्म क्या चीज है, मैं धर्म को जानता भी नहीं

और मानता भी नहीं मैं तो मनुष्य हूँ बस इतना ही जानता हूँ। तो महानुभाव! मानव का धर्म क्या है? राजा बोला–मुझे अपने कर्तव्य का पालन करने से ही समय नहीं है, मैं धर्म कब करूँ, कब जानूँ–देखूँ मेरे पास समय नहीं है। महाराज! धर्म के बिना तो जीवन व्यर्थ ही चला जायेगा बिना धर्म के जीवन में सार ही क्या है? धर्म को तो आपको स्वीकार करना ही चाहिये। महाराज! धर्म के बिना तो कोई आत्मा परमात्मा नहीं बन सकता है। सभी मंत्रियों की बात को राजा ने सुना और कहा ठीक है आप लोग धर्म के बारे में कहते हैं, मैं धर्म को स्वीकार करूँगा। सभी मंत्री मिलकर धर्माचार्यों के पास गये और बोले आप हमें धर्म के संबंध में अपने शास्त्र दें। सभी मतावलम्बियों ने शास्त्र दिये। मंत्रियों ने शास्त्रों को इकट्ठा किया एक–एक मतावलम्बी के शास्त्र एकत्र किये और इतने ग्रंथ इकट्ठे हो गये कि सैकड़ों गाड़ियों में नहीं समा पा रहे थे। अब क्या था सैकड़ों–हजारों की तादात में शास्त्रों से भरे ट्रकों की लाइन लगी है। राजा के दरबार में सब उपस्थित हुए, राजा ने पूछा यह सब क्या है? महाराज! ये धर्मशास्त्र हैं। राजा ने दूर से हाथ जोड़े प्रणाम किया और कहा मैं इन सबकी विनय करता हूँ किंतु आप स्वयं सोचिये क्या इतने शास्त्रों को कोई व्यक्ति पढ़ सकता है। सौ जिंदगी में नहीं पढ़ सकता, इसलिये सभी धर्माचार्यों से कहें कि अपने–अपने मतों का सार संक्षेप में निकाल कर लायें।

सभी ने संक्षेप में अपने–अपने धर्म का सार निकाला तब भी सैकड़ों बोरे भर गये, एक ट्रक शास्त्र हो गये, उसे फिर राजा के पास ले गये राजा ने पूछा ये क्या है? मंत्रियों ने कहा–महाराज! अब तो यह सबका सार है। राजा बोले–आप स्वयं विवेकपूर्वक सोचें कि इतने शास्त्र कैसे पढ़े जा सकते हैं इसीलिये इसे और कम करके लाओ। सभी धर्माचार्यों ने पुनः मंथन किया, शास्त्रों

का संक्षिप्तिकरण किया और संक्षिप्त करते–करते सभी धर्माचार्यों ने अपने धर्म का सार एक शास्त्र में लिपिबद्ध कर दिया। तब भी वह संख्यात शास्त्र हो गये। एक–एक पुस्तक हर धर्म की, यदि बीस धर्म हैं तो बीस शास्त्र हो जायेंगे। राजा के समक्ष पुनः प्रस्तुत हुये। राजा ने कहा–मैं इतना भी नहीं पढ़ सकता, इसका भी सार निकाल कर लाओ। फिर धर्माचार्यों ने गोष्ठियाँ की, उसके उपरांत जो निचोड़ निकालकर लाये तो एक पुस्तक में निकालकर लाये। महाराज को अर्पण की, कहा ये रहा धर्म शास्त्र। राजा ने हाथ जोड़े कहा मैं इसकी विनय करता हूँ, किन्तु मैं इतना बड़ा भी पढ़ नहीं सकता, इसे और संक्षिप्त करके लाओ। सभी धर्माचार्यो ने उस शास्त्र को पुनः संक्षिप्त करने के लिये अपनी वार्तायें–गोष्ठियाँ की सभी धर्माचार्यों ने अपने शास्त्रों का सार एक–एक लाइन में लिखा और एक चार्ट बनाकर लाये। महाराज ये सब हमारे धर्मों का सार है। महाराज ने कहा क्षमा करो–मैं इतना भी नहीं पढ़ पाऊँगा इसे और संक्षिप्त करो। तत्पश्चात् वे एक लाइन में धर्म का सार लिखकर लाये और बताया ''अपने किये बिना कभी किसी को कुछ नहीं मिलता, जैसा करता है उसे वैसा ही मिलता है।''

राजा ने कहा–ठीक है ये बात तो मैं पहले से जानता हूँ कि जब मुझे कुछ नहीं करना है तो कुछ मिलना नहीं है। जैसा करूँगा वैसा प्राप्त होगा। यही तो धर्म मैं करता हूँ जो आप सभी धर्माचार्य सार निकालकर लाये हैं। यहाँ पर भी आचार्य महाराज कह रहे हैं–'अनंतशास्त्रं' शास्त्र अनंत हैं जिनको पढ़ नहीं सकते। ''बहुलाश्चविद्या'' अनेक विद्यायें हैं चाहे आकाश में गमन करने वाली विद्या हो, बहुरूपिणी हो, कैसी भी हो उन सभी विद्याओं का उपयोग नहीं किया जा सकता 'अल्पश्चकालो' काल बहुत थोड़ा है जीवन बहुत छोटा सा है उसमें भी 'बहुविघ्नताश्च' पढ़ने बैठो

तो नींद आती है, थकान आती है, आँखों में दर्द होने लगता है, कहीं और कोई प्रतिकूलता होती है शरीर में रोगादि हो जाते हैं। एक शास्त्र भी पूरा नहीं पढ़ पाते हैं, फिर क्या करें?

आचार्यों ने कहा–''यत्सारभूतं तदुपासनीयं'' इन सभी में जो सारभूत है उसे ग्रहण कर लो। भूसा के ढेर में से धान्य के दाने मत खोजो। धान्य का ढेर लगा है उसमें से प्रस्त प्रमाण/अंजुली प्रमाण ले लो। दूध में पानी मिला हुआ है उस पानी में से दूध के कण मत ढूंढो, अपितु दूध में से भी सार निकालकर के घी की तरह से जो है उसे ग्रहण करो। आप समुद्र का मंथन कर, नहीं पाओगे, रत्न निकाल नहीं पाओगे इसलिये उत्तम बात यह है जो रत्न है उसे ग्रहण कर लो। जो सारभूत है वही उपादेय अर्थात् ग्रहण करने के योग्य है। उदाहरण दिया–''हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्'' जिस प्रकार से नीर–क्षीर दोनों मिले हों तो हंस क्षीर को ग्रहण कर लेता है नीर को छोड़ देता है। वह सम्पूर्ण नीर को ग्रहण करके उसके बाद क्षीर को उसमें से ग्रहण करे इतना समय उसके पास नहीं है वह क्षीर–क्षीर को ग्रहण करता है उसकी चोंच में एक ऐसा तरल पदार्थ होता है जिसके माध्यम से दूध में से भी पानी बाहर निकल जाता है। वह पदार्थ क्षारीय होता है। क्षारीय पदार्थ दूध के साथ मिक्स होने से वह दूध जम जाता है, शीघ्र फट जाता है और पानी बाहर आ जाता है। दूध के जो खण्ड हैं उन्हें वह हंस ग्रहण कर लेता है। जैसे दूध में कोई नींबू निचोड दे तो पनीर बन जाता है। इसी तरह से हमारे मस्तिष्क में एक ऐसी ग्रंथि होनी चाहिये कि हमारे सामने बहुत सारे शब्द हों उन शब्दों में से जो सारभूत शब्द हैं उन्हें ग्रहण करके हम अपनी आत्मा का कल्याण कर सकें। यही संभव है आत्महित के लिये क्योंकि सभी शास्त्रों को पढ़ नहीं सकते, सभी शास्त्रों को सुन नहीं सकते। आँख बंद करके भावश्रुत ज्ञान के बल से शिवभूति मुनिमहाराज ने केवल ज्ञान प्राप्त किया।

तुसमास घोसंतो, भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामे सिवभूई, केवलणाणी फुडं जाओ।।

तुषमास का घोष करने वाले वे शिवभूति मुनिराज जिन्हें 12 वर्ष में णमोकारमंत्र याद नहीं हो पाया। णमोकार मंत्र याद करते, आहार के बाद आते और भूल जाते। क्षयोपशम इतना घट गया कि याद नहीं हो सका। उनके गुरु महाराज ने उन्हें करुणाबुद्धि से बार–बार समझाया परंतु जब उन्हें याद नहीं रहता तो वे भी अपने मन में झुंझलाने लगे कि क्या करें। एक दिन वे जा रहे थे, एक मुनिराज ने उनसे कहा–कल्याण के लिये इतना जानना पर्याप्त है कि शरीर अलग है आत्मा अलग है। वे बोले इसे तो मैं याद कर लूँगा। 'तुषमास भिन्नं' तुष यानि दाल, मास यानि छिलका। दाल अलग है छिलका अलग है इस बात को वे समझ गये। वे इसी का उच्चारण करते रहे ''तुषमास भिन्नं''। चर्या का समय हुआ तो नगर की ओर जाने लगे। जंगल में से जा रहे थे, वे पुनः भूल गये कि मुनिराज ने क्या याद कराया। उन्होंने कहा अगर लौटकर जाऊँगा तो गुरुमहाराज डाँटेंगे, प्रायश्चित देंगे, उन्होंने मुद्रा छोड़ी और सामने देखा एक महिला दाल धो रही थी। उन्होंने उससे पूछा आप क्या कर रही हैं? वह स्त्री बोली 'तुषमासभिन्नं करोमि' मैं दाल का छिलका और दाल अलग–अलग कर रही हूँ। इतना सुना वे बोले अरे! ये ही तो मेरे गुरु ने मुझे सिखाया था। तुष मास नहीं है और मास तुष नहीं है। यानि दाल छिलका नहीं है, छिलका दाल नहीं है। इस प्रकार उन्होंने उस सूत्र को प्राप्त किया और पुनः जंगल में जाकर के ध्यान में संलग्न हो गये और ध्यान में संलग्न होते ही अन्तर्मुहुर्त्त में उन्होंने श्रेणी पर आरोहण किया और क्षपक श्रेणी मांडकर के केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया, केवली बन गये।

उनकी गंधकुटी में उनके गुरुमहाराज भी आये, चार प्रकार के देव आये उनकी पूजा की। यहाँ कहने का आशय ये है कि जो सारभूत है उसे हम ग्रहण कर लें। जब हमारे पास इतना समय नहीं है जिसके माध्यम से हम अनेक शास्त्र पढकर आत्म कल्याण में प्रवृत्त हों तो चाहे वह वाक्य संस्कृत भाषा का हो या प्राकृत का, हिंदी का हों या अन्य भाषा का जिस किसी वाक्य, पद को सुनकर हमारी आत्मविशुद्धि बढ़ती है उन शब्दों को ग्रहण करो, वे चार शब्द भी चार अनुयोगों की तरह से हमारी आत्मा का कल्याण करने में समर्थ हो सकते हैं।

महानुभाव! आप भी हंस की तरह से सारभूत अवस्था को ग्रहण करें और अपनी आत्मा का कल्याण करने मे समर्थ हों। इस प्रकार की हम आपके प्रति मंगल भावना भाते हैं, इन्हीं मंगलभावनाओं के साथ.....।।

।।श्री शांतिनाथ भगवान् की जय।।

।।जैनं जयतु शासनं–विश्वकल्याणारकं।।

आर्य पुरुष के लक्षण

महानुभाव! जीवन में नकारात्मक और सकारात्मक दोनों प्रकार की ऊर्जा प्रवाहमान दृष्टिगोचर होती है। नकारात्मक ऊर्जा के माध्यम से जीवन की गति पतनशील होती है और सकारात्मक ऊर्जा के माध्यम से जीवन की गति उन्नतशील ऊर्ध्वगामी होती है। नकारात्मक ऊर्जा हमारे जीवन में संस्कारवशात् अनादिकाल से चली आ रही है। सकारात्मक ऊर्जा को हमें पुरुषार्थपूर्वक अपने जीवन में उत्पन्न करना होता है। सकारात्मक ऊर्जा सहज में नहीं आती, उत्पन्न करने के लिये पुरुषार्थ करना पड़ता है और नकारात्मक ऊर्जा हमारे जीवन में सहज में आ जाती है। जैसे जल की गति नीचे जाना सहज है, ऊपर जाना असंभव नहीं किंतु पुरुषार्थगम्य है। अग्नि की लपटें ऊपर की ओर जाती हैं ये सहज है किंतु हवा के माध्यम से उन अग्नि की लपटों को भी तिरछा और अधोगामी बनाया जा सकता है। हवा जोरों से चल रही हो तो अग्नि की लपटें बलखाती हुयी वृक्षों की तरह से जमीन को भी छू जाती हैं।

हमारे जीवन की विशेषता ये है कि इसमें उभयशक्ति है, प्रत्येक प्राणी के जीवन में उभयशक्ति है। जीवन ऊर्ध्वगामी भी बनाया जा सकता है और अधोगामी भी। जीवन को हम अपने पुरुषार्थ के बल से वरदान स्वरूप भी बना सकते हैं और अभिशाप स्वरूप भी। जीवन सुख देने वाला भी बन सकता हैं और दुःख देने वाला भी। कुछ कार्य ऐसे हैं जिन्हें न करने से सुख होता है, किंतु कुछ कार्य ऐसे हैं जिन्हें न करें तो दुःख होता है। कई बार व्यक्ति सकारात्मक कार्यों में भी इतना अतिरेक कर देता है कि सकारात्मक कार्य भी नकारात्मक कार्य जैसे हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो औषधि की अति भी मृत्यु का कारण बन सकती

है। यथेष्ट भोजन भी यदि अतिमात्रा में ले लिया जाये तो रोग का कारण बन सकता है। क्षमता से ज्यादा भोगे गये भोग भी मृत्यु का कारण होते हैं। अति परिग्रह भी दुःख का, अशांति का, क्लेश का और मृत्यु तक का कारण हो सकता है। जिसे किंचित् परिग्रह धारण कर आनंद आता था यदि उसे ज्यादा परिग्रह दे दिया जाये तो हो सकता है वह पागल हो जाये या Attack पड़ जाये। जिसने जीवन में 100–200 या 500 रूपये ही प्रतिदिन कमाये हों उसे एक ही दिन में 10 करोड़ का लाभ हो जाये तो हो सकता है वह पागल हो जाये या मृत्यु तक को प्राप्त हो जाये।

जिसने जीवन में प्रतिदिन 100–200–1000 रु. तक का घाटा सहन किया हो यदि अचानक 10–20 करोड़ का घाटा लग जाये, फिर उसकी लॉटरी खुली या बाद में इनाम मिला लॉटरी की खबर पिताजी के पास आयी, बेटे को कह भी नहीं पाये समाचार सुनते ही पिता जी चल बसे। बेटा जब घर में आया, पिताजी को मृत देखा तो पता चला कि लॉटरी खुलने की खबर से पिता को अटैक पड़ गया। कोई बात नहीं मैं धन का सदुपयोग करूँगा, गरीबों को बाटूँगा उसने घोषणा कर दी कि मैं सबको यथेच्छ धन बाटूँगा, लोग आशान्वित हो गये। तभी दूसरा समाचार आ गया क्षमा करें लॉटरी का टिकट आपका नहीं खुला है। अब उसे भी अटैक पड़ गया मैंने लोगों से कह दिया मैं धन वितरण कैसे करूँगा?

केवल लॉटरी का टिकट लिया था। धन आया नहीं, गया नहीं किंतु पिता पुत्र दोनों चले गये। कई बार जीवन में ऐसी घटनायें घटित होती हैं कि आप आशा और उम्मीद से बहुत सारी खुशी अपने चित्त में भर लेते हैं। कभी आधी बात सुनकर के और कभी अधूरी ही बात सुनकर के अथवा कभी अधूरी बात की स्वयं पूर्ति करके अथवा कभी ऐसा होता है कि हमारा मन

स्वयं ही प्रश्न पैदा करता है स्वयं ही उत्तर खोज लेता है। जैसे–हमने सोच लिया कि ये सामने वाले व्यक्ति बहुत भले हैं ये हमारे साथ अच्छा करेंगे, और अपने मन से ही उनके विषय मे प्रश्नोत्तर निकाल लिये। यहाँ तक तो कोई बात नहीं है कि किसी के बारे में अच्छा सोचना किंतु जब हम किसी पर शंका/संदेह करते हैं उसके उत्तर हम उससे नहीं माँगते हैं कि तुमने ऐसा किया या नहीं वरन् अपने ही मन से कि हाँ–हाँ उसने ही किया होगा, ऐसा तो वो ही कर सकता है। अपने मन में ही उसके प्रति नकारात्मक प्रश्न भी हम ही बनाते हैं और मजे की बात तो यह है कि उत्तर पूछने हम उसके पास नहीं जाते अपने मन से ही उत्तर खोज लेते हैं। उससे नहीं पूछा कि तुमने बीड़ी पीना छोड़ दिया या नहीं, अपने मन से ही कह देते हैं–हाँ–हाँ उसने छोड़ा थोड़े ही होगा बीड़ी पीना। अरे भले प्राणी! उससे पूछ तो लो कि उसने अपने जीवन में कभी बीड़ी को हाथ लगाया भी है या नहीं। किंतु नहीं, स्वयं ही प्रश्न बना लिया पीता ही होगा, क्यों छोड़ा होगा, वो तो ऐसा ही व्यक्ति होगा तो जब प्रश्न हम बनाते हैं तब उत्तर देने वाला वह व्यक्ति जिसके संबंध में वे प्रश्न बने हैं उससे एक बार पूछ लो।

प्रश्न बनाने के लिये तुम स्वतंत्र हो हम मानते हैं किंतु उत्तर देने के लिये सामने वाला है। वह बुत नहीं है, मूर्ति नहीं है, लकड़ी नहीं है उससे पूछो, वह क्या उत्तर देता है। उसके उत्तर भी तुम अपनी तरफ से खोज लेते हो, फिर इतने भ्रमजाल में फँसते चले जाते हो कि निकालने वाला संसार का कोई व्यक्ति समर्थ नहीं होता। तुम अपनी सोच को बदलते नहीं, अपनी सोच पर अड़ के ही रहते हो। इसीलिये जीवन में कई बार अनपेक्षित दुःख भी आ जाते हैं, कई बार बिन मौसम दुःखों की बरसात सी हो जाती है, कई बार व्यक्ति को लगता है मुझे दुःख संकट

झेलने पड़ेंगे और वह पहले तैयार भी हो जाता है और झेल भी लेता है किंतु जब अचानक ही दुःख आता है तब वह अपने को संभाल नहीं पाता। किंतु वे दुःख संकट अचानक आते नहीं हैं व्यक्ति उन्हें स्वयं बुला लेता है।

महानुभाव! जीवन में स्वतंत्रता का अभियान अच्छा है, स्वतंत्र होना हमारी नियति है, प्रकृति है। स्वतंत्र बनो, बनना भी चाहिये कोई भी व्यक्ति गुलाम नहीं होना चाहता, कोई भी देश पराधीन नहीं होना चाहता, कोई भी किसी की अधीनता स्वीकार नहीं करना चाहता है। आजकल तो छोटे बालक भी अपने अभिभावक का गुलाम नहीं बनना चाहते हैं। उसे भी स्वतंत्र अलग कमरा चाहिये। उससे पूछो तुझे अलग कमरा क्यों चाहिये? वह कहता मुझे Disturb होता है। जब कि पिताजी सुबह ऑफिस चले जाते हैं, माँ का आधे से ज्यादा समय रसोई में निकल जाता है। बेटा घर में अकेला ही तो रहता है किंतु ये एकलपने के संस्कार बड़े घातक होते हैं क्योंकि दूसरों को सहन करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। व्यक्ति स्वच्छन्द बन जाता है।

स्वतंत्र होना अच्छी बात है किंतु स्वच्छंद होना अच्छी बात नहीं है। धम्मसुत्तं ग्रंथ में आचार्य महोदय ने लिखा है–

सतंतो ण सच्छंदो, कायरो वि ण होदु खमासीलो
अप्पव्वई ण किवणो, पसंसगो ण णिंदगो कयावि।।39।।

व्यक्ति को स्वतंत्र होना चाहिये ये अच्छी बात है किंतु स्वच्छंद नहीं। एक व्यक्ति बीच सड़क पर चलता है और सामने से यदि वाहन आता है तो वह बीच में खड़ा होकर ही कहता है मैं स्वतंत्र भारत का स्वतंत्र नागरिक हूँ, 1947 से पहले पराधीन था किंतु अब तो स्वतंत्र हूँ। अब ट्रक वाला क्या कहेगा? वह कहेगा–पराधीनता तो मेरे भी गले नहीं पड़ी, उसी दिन मैं भी

स्वतंत्र हो गया था। तुम अगर बीच सड़क पर चलने के लिये स्वतंत्र हो तो मैं ट्रक चलाने के लिये स्वतंत्र हूँ। तो ये स्वतंत्रता नहीं है स्वच्छंदता है।

एक व्यक्ति भैंस लेकर आया और उसे चरने के लिये छोड़ दिया। उसने दूसरे के खेत को उजाड़ दिया। वह कहता है मैं स्वतंत्र मेरी भैंस भी स्वतंत्र। सामने वाला व्यक्ति जिसका खेत उजाडा या वह कंधे पर लाठी रखकर आया 5–7 लाठी भैंस में मारी और थोड़ी मारी उस भैंस वाले में और कहा तेरी भैंस स्वतंत्र मेरी लाठी स्वतंत्र। तू स्वतंत्र–मैं स्वतंत्र। तो ऐसी स्वतंत्रता से जीवन में सुख–शांति नहीं आती, क्योंकि ये स्वतंत्रता है ही नहीं यह तो स्वच्छंदता कहलाती है। स्वच्छंदता के मायने होता है गर हमारी स्वतंत्रता से सामने वाले को बाधा उत्पन्न हो जाती है। जब हमारी स्वतंत्रता किसी मर्यादा में, विधि–विधान, कायदे–कानून में होती है तब वह हमारी स्वतंत्रता हमारे व दूसरों के लिये सुखद होती है।

जीवन के किसी भी मोड़ पर हम स्वतंत्र बनकर रहें किंतु स्वच्छंद बनकर के कभी न जीयें। स्वच्छंद जीवन ऐसा समझो जैसे बिना ब्रेक की गाड़ी, बिना लगाम का घोड़ा, निरंकुश हाथी, स्वच्छंद जीवन में तो सदैव प्रतिकूलता अशांति, क्लेश, संहार और पतन ही पतन है। स्वतंत्रता के साथ नियम–कायदे बन जाते हैं। जब 1947 में भारत स्वतंत्र हुआ 26 जनवरी 1950 तक पूर्व गणतंत्र के माध्यम से, पूर्व संविधान के माध्यम से संचालन हुआ। बाद में कुछ संशोधन करके स्वतंत्र भारत ने एक स्वतंत्र भारत का संविधान बनाया। भगवान् महावीर स्वामी के नाना चेटक महाराज ने भी गणतंत्र की स्थापना की, उनका भी एक गणतंत्र था। उन्होंने 14 गणराज्यों को जीतकर के साम्राज्य किया। इसके साथ–साथ उनका धेवता श्रेणिक का पुत्र कुणिक अजातशत्रु ने

भी पूरे भारत पर साम्राज्य किया किंतु उसने भी उसी गणतंत्र के माध्यम से, प्रजातंत्र के माध्यम से जो उनके नाना ने बनाया था पूरे भारत देश का संचालन किया।

आप भी अपने घर में स्वतंत्र हैं किंतु घर में भी कुछ कायदे–कानून होते हैं। छोटे बच्चों को कितने अधिकार हैं, बड़ों को कितने अधिकार हैं, छोटे–बड़ों के अपने–अपने क्या–क्या कर्तव्य हैं माता–पिता के, बहिन–भाई के एक दूसरों के प्रति क्या कर्तव्य हैं। इनका पालन करते हुये ही स्वतंत्रता जीवित रह सकती है। जब कोई व्यक्ति अपने अधिकार और कर्तव्य को छोड़ देता है तो स्वतंत्रता की हत्या हो जाती है और स्वतंत्रता के स्थान पर स्वच्छंदता पिशाचिनी बनकर बैठ जाती है। जो सबको हजम कर जाती है, जो घर की सुख–शांति चैन को ही नहीं वरन् यह स्वच्छंदता घर के मनुष्यों को भी हजम कर जाती है। स्वच्छंदता दुःखद थी, दुःखद है, दुःखद ही रहेगी। क्योंकि स्वच्छंदता के मायने है कि उसके जीवन की कोई Outline नहीं, नींव नहीं, कोई कानून नहीं, कोई मर्यादा नहीं। भारतीय संस्कृति में ऐसा जीवन कभी भी उपादेय नहीं बतलाया। भारतीय संस्कृति में भले ही पूर्व में राजा–महाराजा लोग जो शिकार भी करते थे या जंगल में रहने वाला भील शिकार भी करते थे तब भी वे नियम और मर्यादा का पालन करते थे।

शिकारी भी नियम पालते थे, जब पशु भाग रहा है दाँत में घास दबाकर के तब उसे मार नहीं सकते, कोई मादा अपने बच्चे को दूध पिला रही है तो उसे मार नहीं सकते, सो रहा है तो मार नहीं सकते, जब सामने से आकर वार कर रहा है तभी शिकारी उस शिकार को मार सकते थे। यदि किसी शिकारी ने नियम का उल्लंघन किया तो भीलों की बस्ती उस शिकारी को दण्ड देती थी। यह भारतीय संस्कृति रही है। जब उन भील–मंगोल

आदि के शिकार खेलने तक के भी नियम थे, युद्ध करने के भी नियम होते हैं, जिसने अस्त्र–शस्त्र छोड़ दिये हैं तो उसे मार नहीं सकते, जिसने पीठ कर ली हो तो मार नहीं सकते, किसी भी अस्त्र–शस्त्र का प्रहार नाभि से नीचे कर नहीं सकते, मर्म स्थान पर पहला प्रहार कर नहीं सकते। ऐसा भी नहीं कि युद्ध के प्रारंभ में ही राजा उतर जाये दोनों एक–दूसरे को मार दें। सैनिक–सैनिक से लड़ रहे हैं, सेनापति–सेनापति से लड़ रहे हैं सबके कुछ न कुछ नियम होते थे।

तो यहाँ पर आचार्य महोदय ने लिखा है कि स्वतंत्रता तो हो, स्वतंत्रता का आकांक्षी तो बनें, स्वतंत्र जीये किंतु अपने जीवन में स्वच्छंद प्रवृत्ति कभी न करे। दूसरी बात **'कायरो वि ण होदु खमासीलो'** प्राणी कभी कायर न बने क्षमाशील बने। दो राजा युद्ध कर रहे हैं एक राजा ने दूसरी सेना को प्रतिहत कर दिया आधी से ज्यादा सेना मार दी किन्तु ये राजा ज्यों ही लगा हारने वाला है तब भी वह भाग नहीं रहा है कायर नहीं बन रहा है वरन् उसने हथियार डाल दिये, हाथ जोड़ लिये और क्षमा माँग ली तो दूसरा राजा उस राजा को मार नहीं सकता, बंदी नहीं बना सकता।

भारतीय संस्कृति कहती है कायर मत बनो क्षमाशील बनो। कायर बनकर जीने से तो मृत्यु के अंतिम क्षण में शत्रु को क्षमा करके वीरगति प्राप्त करना अच्छा है। भारतीय संस्कृति कायरता की पक्षधर न आज है, न कल थी और संभव है भारतीय नागरिकों की धमनियों में जो दौड़ने वाला खून है उसने कायरता कभी नहीं सिखायी। तो कायर मत बनो। प्राणों का भी लोभ मत करो। प्राणों की आहूति देने की आवश्यकता पड़े देश की रक्षा के लिये, धर्म की रक्षा के लिये, धर्मात्मा की रक्षा के लिये अपनी मान–मर्यादा की रक्षा के लिये तो प्राणों को दिया जा सकता है। जैसे मुनिमहाराज धर्म की रक्षा के लिये शरीर का परित्याग करते हैं, वे परवाह नहीं करते।

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्मायतनु विमोचन, माहुसल्लेखना मार्यः।।

आर्य पुरुष या तीर्थंकरों आदि ने कहा है धर्म के लिये शरीर का परित्याग करना, उपसर्ग आने पर, दुर्भिक्ष आने पर, वृद्धावस्था आने पर या और भी कोई प्रतिकूलतादि होने पर जिसका प्रतिकार न किया जा सके तब धर्म के लिये शरीर छोड़ो। यहाँ पर भी कह रहे हैं कायर मत बनो, वीरता का परिचय दो। शत्रु को जीतने के लिय वीरता चाहिये कायरता नहीं। अपनों को जीतने के लिये धीरता चाहिये। धैर्य और कायर में अंतर है। जीवन में कायर मत बनो, धैर्यशील बनो। कोई व्यक्ति आपके धैर्य को कायरता समझता है तो समझ ले, किन्तु कायरता का आशय है अपनी रक्षा करने का भाव, धैर्य का आशय होता है विवेकता से सोच समझ कर मुझे क्या करना चाहिये, तब निर्णय लेना। ''कायर मत बनो, क्षमाशील बनो''। **''क्षमा वह धागा है जो गलतफहमियों की कील में फंसे रिश्ते रूपी वस्त्र को सी देता है।''**

आगे कहते हैं **''अप्पव्वई ण किवणो''** जीवन में अल्पव्ययी बनना अच्छी बात है। आवश्यकता पर धन का व्यय करना चाहिये, अनावश्यक खर्च मत करो। व्यक्ति अल्पव्ययी धर्म के क्षेत्र में तो बन जाता है किन्तु भोगों के क्षेत्र में नहीं बन पाता है। हमें अल्पव्ययी कर्मों के क्षेत्र में, भोगों के क्षेत्र में बनना चाहिये धर्म के क्षेत्र में तो खूब बढ़–चढ़कर देना चाहिये जिससे उसे उतना ज्यादा मिले। कृपण न बनें। कृपण का अर्थ होता है जो आवश्यकता पड़ने पर भी द्रव्य का व्यय न करे। आगे कहा **पसंसगो ण णिंदगो कयावि** जीवन में प्रशंसक बनो निंदक मत बनो। निदंक बनने से परिणामों में क्रूरता आती है, कषायों का अतिरेक आता है इसलिये कभी भी किसी की भी निंदा मत करो। आपको लगता है अमुक

व्यक्ति अच्छा नहीं है तब भी उसकी निंदा मत करो। किसी अच्छे व्यक्ति की प्रशंसा करो, उसके अंदर जो गुण हैं उनकी प्रशंसा करो, गुण प्रशंसा करने से गुण वृद्धि को प्राप्त होंगे दोष तिरोहित होने लग जायेंगे। ये आर्य पुरुषों का लक्षण है।

आर्य पुरुष स्वतंत्र जीवन जीते हैं, स्वच्छंद नहीं। आर्य पुरुष क्षमाशील होते हैं कायर नहीं, आर्य पुरुष मितव्ययी अल्पव्ययी तो होते हैं किंतु कृपण नहीं, आर्य पुरुष गुणप्रशंसक तो होते हैं किंतु निंदक नहीं। इसीलिये आप सभी लोग भी अपनी इस प्रकार की प्रवृत्ति बनायें जिससे हमारा जीवन भी सुखद और शांतिमय बने, आपका जीवन दूसरों के लिये भी सुख–शांति का निमित्त बने। ऐसा जीवन ही श्रेयस्कर होता है। आप सभी ऐसा जीवन जी सकें ऐसी हम आप सभी के प्रति मंगल भावना भाते हैं और इन्हीं सद्भावनाओं के साथ.....।।

।।श्री शांतिनाथ भगवान् की जय।।

।।जैनं जयतु शासनं–विश्वकल्याणकारकं।।

आर्यों के व्यवहार सूत्र

महानुभाव! जीवन में प्रायःकर के बहुत कुछ मिलता है। जो कुछ मिलता है उसका हम सदुपयोग नहीं कर पाते और जो नहीं मिलता है उसकी योजना बनाते रहते हैं। दुःख का मूल कारण यह भी हो सकता है। हम अभावों में जीने के आदी हो गये हैं। जो हमारे पास है उसका सदुपयोग करने की खबर भी नहीं है। व्यर्थ की बातों में समय व्यतीत कर देना हमारी एक सहज आदत बन गयी है। अभाव के लिये तरसते रहना, अभावों की चर्चा करते रहना कि अभाव वाली वस्तु जब प्राप्त होगी तब हम उसका ऐसा–ऐसा सदुपयोग करेंगे उसके बारे में योजना करना ये जीवन को सार्थक नहीं कर सकता। सबसे पहले तो उसका सदुपयोग करना चाहिये जो हमारे पास है।

एक निर्धन व्यक्ति किसी महात्मा के पास पहुँचा उसने कहा–महात्मा जी! मैं बहुत निर्धन हूँ, तभी दूसरा व्यक्ति पहुँच गया, तीसरा व्यक्ति भी पहुँच गया, देखते–देखते चौथा व्यक्ति भी आ पहुँचा और आज के जमाने का व्यक्ति रहा होगा सभी को धन चाहिये सभी परेशान हैं। पहले व्यक्ति ने कहा–मुझे ज्यादा नहीं चाहिये मेरा दो बार तो नहीं कम से कम एक बार तो पेट भर जाये। मकान–दुकान की मुझे आवश्यकता नहीं, गर्मी में फुटपाथ पर सो जाता हूँ, सर्दी में कहीं वृक्ष के नीचे बगीचे में सो जाता हूँ वहाँ गर्मी रहती है पेड़ों की थोड़ी घासफूस डालकर के और वर्षा के दिनों में कहीं स्टेशन आदि पर खड़ा हो जाता हूँ जब बारिश होती है तब खुले में आनंद लेता हूँ। इसलिये मुझे ज्यादा न चाहिये थोड़ा सा चाहिये। दूसरे ने कहा किराये का मकान है मुझे अपना मकान चाहिये, रोटी तो दो बार मिल जाती है। तीसरे ने कहा–व्यापार भी वृद्धि को प्राप्त हो रहा है, परिवार भी

वृद्धि को प्राप्त हो रहा है, मकान तो घर का है पर छोटा सा है गली में गाड़ी तक तो जा नहीं सकती इसीलिए मुझे धन चाहिये। चौथा कहता है–ऐसा भी कोई जीवन है कोई फैक्ट्री ही नहीं, बस एक दुकान चल रही है पचास साल हो गये सुबह से शाम तक बैठकर वहाँ मेहनत करते हैं। कमाने को तो दुकान से महीने में कई बार 1 लाख रु. भी कमा लेते हैं, कई बार कम भी होता है। यूँ तो कोई कमी नहीं है किंतु छोटा सा घर है, परिवार वृद्धि को प्राप्त हो रहा है घर छोटा पड़ जाता है, गाड़ी भी छोटी है लोग तो बड़ी–बड़ी गाड़ी में घूमते हैं तो उन्हें देखकर लगता है पैसा अभी और चाहिये।

महात्मा ने कहा–ठीक है, चारों की भावनायें पूर्ण हो जायेंगी किंतु शर्त ये है कि तुम देना क्या चाहते हो? अरे! देना क्या चाहते हैं, आपके पास कोई व्यापार थोड़े ही है। यदि कोई वस्तु खरीदनी ही है तो बाजार से ले लेंगे। महात्मा बोले–एक साथ दो चीज नहीं मिल सकती। प्रकाश चाहिये तो अंधकार को छोड़ना पड़ेगा, सुख चाहिये तो दुःख को छोड़ना पड़ेगा, ज्ञान चाहिये तो अज्ञानता को छोड़ना पड़ेगा, शांति चाहिये तो अशांति को छोड़ना पड़ेगा, अब आप ये मान लो कि आप किसे प्राप्त करके निर्धन हैं। जैसे कोई व्यक्ति कुछ चाहता है तो उसे अपनी वर्तमान की दशा छोड़नी पड़ेगी। आप कह रहे हैं निर्धनता को छोड़कर हम अमीर होना चाहते हैं तो जो आपकी वर्तमान की दशा है उसे आप कब छोड़ने को तैयार है? भिखारी कहता है मैं तैयार हूँ मेरे पास एक रोटी है मै दान दे दूँगा, उसने दी। दूसरा व्यक्ति जिसे दो समय का भोजन मिल जाता था उसने कहा–मैं भी जो मेरे पास वर्तमान में सम्पत्ति है उसे आधी दे सकता हूँ। तीसरे ने कहा मैं 25% दान कर सकता हूँ। अगले ने कहा 10% से ज्यादा नहीं वरना मैं तो मर जाऊँगा। महात्मा ने कहा–जैसे जिसने दान दिया है, वैसा ही उसे प्राप्त करने का फल कहा है।

महानुभाव! सबसे पहले गर चाहते हैं तो त्याग करना सीखें। बिना त्याग किये, बिना पीछे वाले पैर को उठाये आगे वाले पैर को नहीं उठा सकते। पीछे की जमीन त्याग करनी पड़ेगी तभी पैर आगे बढ़ेगा। व्यक्ति चाहता है जो कुछ मेरे पास है उसमें बदलाव न आये, और आगे–आगे मिलता रहे। खेत में जो कुछ पहले से फसल खड़ी है उसमें दाना एक भी नहीं है केवल वृक्ष खड़े हैं कुछ हरे हैं, कुछ सूख रहे हैं, वह कहे इन पेड़ों को तो मैं काटूँगा नहीं किंतु नयी फसल मुझे प्राप्त हो जाये तो ऐसा कैसे हो सकता है। पहले पुरानी फसल को तो काटना पड़ेगा फिर खेत को जोतना पड़ेगा उसके बाद ही तो बीज बो सकते हो और हम चाहते हैं कि पूर्व पुण्य से जो कुछ हमें प्राप्त हुआ है उस फसल को तो हम काटना नहीं चाहते और आगे हमें प्राप्त होता चला जाये तो ऐसा नहीं होता।

आचार्य महोदय कह रहे हैं यदि जीवन में कुछ प्राप्त करना है तो देना सीखो। कुयें में पानी भरा है, उसमें नया स्रोत का पानी तब तक नहीं आयेगा जब तक कुयें से पानी खीचोंगे नहीं। नदी का पानी एक जगह रुक जाये तो और पीछे वाला पानी आयेगा नहीं बांध लगा है ये पानी जायेगा तब पीछे का पानी आयेगा। पाइप में पानी आ रहा है, किसी ने हाथ लगाकर पाइप बंद कर दिया तो पीछे पानी भर रहा है वह पानी आगे नहीं आयेगा ये पानी निकलेगा तब पीछे वाला पानी आयेगा। निकलने दो, जो कुछ है उसे छोड़ो गर तुम्हारे लिये उपयोगी नहीं है तो छोड़ो। तुम जिसे चाहते हो उसके लिये इसे छोड़ने को तैयार हो जाओ। पूर्वजों की जैसी नीति रीति रही उसके लिये 'अज्जसंक्किदी' (आर्य संस्कृति) नाम के ग्रंथ में आचार्य परमेष्ठी ने लिखा है–

णिज्जुंजदि सदव्वेणं, परिवारं च जुंजदि।
सव्व–पाणी हु णिज्झेदि, वत्थूणि उवउंजदे।।

आचार्य यहाँ कह रहे हैं–उसने अपने जीवन में एक धोती का जोड़ा भी नहीं जोड़ा, उसने अपने जीवन को चलाने के लिये वृद्धावस्था के लिये दो आना भी नहीं जोड़ा, उसने कोई वस्त्राभूषण आदि जोड़ने की भावना नहीं रखी, कोई अलग से मकान–दुकान भी नहीं बनाया किंतु हाँ जब तक वह जीवित रहा तब तक उसने पूरे परिवार को जोड़ा उसके परिवार का कोई सदस्य बिखर नहीं पाया, रिश्तेदार–नातेदार–बिखर नहीं पाये। जब तक वे रहे तब तक देहरी पर हर रिश्ते–नातेदार आता था, भाई–बंधु आते थे, बहिन–बेटियों का भी आना जाना था, यहाँ तक कि अड़ौसी–पडौसी मित्रगणों का भी आना जाना था। इतना ही नहीं नयी रिश्तेदारी के साथ–साथ पुरानी रिश्तेदारी दादा जी के पिता जी की जो रिश्तेदारी थी तीन–चार पीड़ियों तक भी लोग आते रहे क्योंकि उनका सबसे बड़ा मृदु संबंध था और बड़ी आत्मीयता थी।

पूर्वजों का श्रम परिवार को जोड़ने में लग जाता था, आज का श्रम परिवार को जोड़ने में तो नहीं अपितु धन को जोड़ने में लगा है। आज लगता है अर्थ जोड़ने से सुख–शांति मिलेगी, पहले बुजुर्गों को लगता था सुख–शांति व परमार्थ परिवार को जोड़ने से मिलेगा। एक गरीब परिवार में 5–6 जितने भी सदस्य हैं वे एक थाली में प्रेम से भोजन कर लेते थे स्वर्ग जैसा आनंद आ जाता, एक कमरे में आसानी से सो जाते थे। आज कोठी में 8–10 कमरे हैं 5–7 हौल हैं और रहने वाले 3–4 प्राणी हैं तब भी कोठी छोटी सी पड़ रही है। एक कमरे में दूसरा नहीं बैठ सकता और एक–एक की गृहस्थी अलग–अलग है। एक–एक के पास इतने बर्तन हैं कि एक साथ 10–10 थाली में परोसकर भोजन करें। तब भी थालियाँ बचेंगी किंतु फिर भी भोजन घर में नहीं कर रहा, भोजन तो होटल में जाकर कर रहा है। और ऐसा

भी नहीं कि एक साथ अपने भाई बंधु को कभी भोजन करने भी बुलाया हो, कभी नहीं बुलाया। अरे! वह माता–पिता तक को तो पूछता नहीं है भाई को तो बाद में बुलायेगा।

महानुभाव! आज का व्यक्ति–परिवार को जोड़ना नहीं चाहता, यहाँ तक कि बेटा भी रूठ जाये तो रूठा रहे चिंता नहीं, मैं और मेरी पत्नी पर्याप्त हैं। पिता जी रूठ गये रूठ जाने दो, बहिन रूठ गयी तो रूठ जाये क्या करना। एकांगी जीवन जीना चाहता है किंतु आचार्यों ने ऐसा नहीं कहा, उन्होंने कहा सुख तुम्हें मिलेगा तो द्रव्य को जोड़ने से नहीं मिलेगा। चाहे–आपके कोठा अनाज से भरे रखे हों, चाहे आपके पास लॉकर्स में बहुत सारा धन रखा है, चाहे आपके पास नोटों के बंडल बोरा के बोरा भरे रखे हैं किंतु उसमें से सुख नहीं निकलेगा, उसमें से तो आपको रौद्रध्यान मिल सकता है, उसके माध्यम से आपका आर्त्त ध्यान बन सकता है, उसके माध्यम से आपके जीवन में संकट विपत्ति आ सकती हैं।

हम तो ऐसा समझते हैं बुजुर्ग वास्तव में बहुत ज्ञानी थे, इसलिये वे परिवार जोड़ने का श्रम करते रहे। चाहे बेटा छोटा हो तब भी जाकर उसे मना लिया, और पुचकार के उसे ले आये, चाहे कोई बहुरानी रूठकर मायके चली गयी हो, नाती नहीं गया दादा स्वयं समधियाने चला गया और बहू से कहा–बेटा चल, मैं उसे डाटूँगा, उसी से कोई गलती हो गयी होगी। तो पहले जमाना यह था परिवार को जोड़ने के लिये लगे रहते थे, चाहे कुछ भी हो घर की बात घर में ही रहती थी दीवार के बाहर नहीं जाती थी। आज तो पति–पत्नी में थोड़ी सी भी नोंक–झोंक हुयी बात थाने तक पहुँच जाती है। कहाँ गयी वह सहनशीलता हमने अपने बड़े बुजुर्गों से क्या संस्कार प्राप्त किये हैं। क्या हम वर्तमान के पाश्चात्य संस्कारों से अपना जीवन सुखी बना सकेंगे।

बुजुर्ग मूर्ख नहीं थे, वे हमें मूर्ख लग रहे हैं तुम तो पुराने जमाने के आदमी हो जो तुमने यह सब किया। आज बेटा पिता से कहता है–पिताजी! आपने जीवन भर किया क्या? अपना पेट तो भर नहीं पा रहे, तुम्हारे पास क्या रखा है? देखो मैंने कमाकर मकान–दुकान गाड़ी सब ले ली तुम्हारे पास क्या है? वह पिता कह नहीं रहा, वह मौन बैठा है किंतु मन में सोचता है बेटा जो तुमने प्राप्त किया है वह तो केवल पुद्गल है मैंने जो प्राप्त किया था वह आत्मीय स्नेह प्राप्त किया था, आज सैकड़ों हजारों दुआएँ मेरे साथ लगी हैं किंतु तेरा साथ तेरी पत्नी भी देने वाली नहीं है। तेरे पुत्र भी तेरा साथ देने वाला नहीं है। तू धन कमाने में अंधा तो हो गया है किंतु तेरा विवेक भी चला गया है।

तो पूर्वजों ने जो किया 'णिज्जुंजदि सदव्वेणं' उन्होंने द्रव्य का संयोजन नहीं किया, 'परिवारं च जुंजदि' वे जीवन भर परिवार को जोड़ते रहे, कड़ी कहीं बिखर नहीं जाये, टूट नहीं जाये। सव्वपाणी हु णिज्झेदि' उन्होंने अपना समय अपने परिवार मित्रों को दिया अपने सुख–दुःख की बात उनसे कही, उनसे सुख–दुःख की बातें सुनी। आज समय नहीं है परिवार के लिये, आज समय नहीं है माँ के पास बेटे के लिये, बेटे के पास माँ के लिये सब व्यस्त हैं। या तो यह समय छोटा सा चूहा मोबाइल खा गया या फिर लेपटॉप खोलकर बैठ गये, या कान में ear phone लगाकर बैठ गये जिसे गाँव के लोग कहते थे क्या टेंटा लगा के बैठ गया, किसी की सुनता ही नहीं है। तो इससे आप अपने परिवार से, अपनों से अलग होते चले गये। एकल भी बन जाते तो योगी बन जाते साधु कहलाते किंतु आपके मन में तो संसार बसा पड़ा है और बाहर से संसार से अलग रहना चाहते हो ऐसा जीवन जी पाना बड़ा कठिन है।

तो उस समय हमारे पूर्वजों ने परिवारी जनों से सभी से स्नेह किया, कोई पथिक घर के सामने से निकलकर जा रहा हो, और दो मिनट के लिये ठहर गया छाया देखकर के, तो पूछ लिया करते थे भाई पानी पिओगे क्या? थोड़ी देर बैठ जाओ, अरे कुछ नहीं है तो गुड़ चना खाकर जाओ इतना प्रेम और वात्सल्य था, आज गर सगा रिश्तेदार भी आये तो पूछते हैं? कहाँ से आ रहे हो, आगे कहाँ जाने का कार्यक्रम है। न तो चाय–पानी की पूछी न किसी और की उसने कह दिया मुझे निकलना है। अब तो इतना भी समय नहीं है पत्र लिखने की बात तो छोड़ो, पहले पत्रों की भाषा ऐसी होती थी जिसे लोग महीनों–महीनों तक रखते थे, उन पत्रों में से कुछ वर्गणायें निकलती थीं, सुगंधि आती थी, पत्रों में जो भाव दिखाई देता था, अब तो वे रिश्ते नाते दो मिनट में लिखे और एक सैकिण्ड में अंगुली फेरी तो डॉयल हो गये।

महानुभाव! पहले प्रेम और वात्सल्य का विस्तार होता था, पहले व्यक्ति, व्यक्ति से तो प्रेम करता था और वस्तुओं का उपयोग करता था और आज व्यक्ति वस्तुओं से तो प्रेम करने लगा है और व्यक्तियों का उपयोग करने लगा है। जितने काम का व्यक्ति है उतना काम निकालो बस। पाश्चात्य संस्कृति आ गयी, पाश्चात्य संस्कृति में चाहे चेतन पदार्थ हैं या अचेतन use & throw। यह संस्कृति हमारे भारत की कभी नहीं रही। हमारी संस्कृति तो ये रही है जिसको अपनाया है, उसे कभी ठुकराया नहीं। यदि बाहुबली की शरण में वज्रबाहु भरत चक्रवर्ती का शत्रु भी आ गया, तो ठुकराया नहीं, गले लगाया। शत्रु को भी गले लगाने की रीति रही है, अपनों को ठुकराने की बात तो यहाँ हो ही नहीं सकती। आज व्यक्ति यूज एण्ड थ्रो की नीति को अपनाता है, या वस्तुओं से ही प्रेम करता है एक पत्नी अपना मोबाइल अपने पति को नहीं बताती, न जाने उसमें क्या छिपा है।

Facebook में न जाने क्या चल रहा है सबके रंग–ढंग अलग ही चल रहे हैं। संबंध बचे ही कहाँ आज एक पलंग पर मात्र दो शरीर एक साथ हैं किंतु मन न जाने दोनों के कहाँ–कहाँ रमण कर रहे हैं कौन जानता है। किंतु पहले ये रहता था कि पति 12 साल के लिये नौकरी के लिये बाहर भी गया है तो पत्नी उसे देवता मानकर के पूजा करती थी, सोचती पहले उन्हें भोजन करा देती, फिर भोजन करती न जाने कहाँ कैसे होंगे, क्या खाया होगा? ये भावना रहती थी। दूर रहकर भी इतनी आत्मीयता रहती थी। पहले फोन तो नहीं थे किंतु बेतार के तार से हृदय की आवाज पहुँच जाती थी।

महानुभाव! आचार्य महोदय भी यही बात कहना चाह रहे हैं कि जीवन में यदि हम वस्तुओं का उपयोग करना सीख जायें, और व्यक्तियों से प्रेम करना सीख जायें तो आज भी हम पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना कर सकते हैं। स्वर्ग का निर्माण ईंट–पत्थर, चूना–गारे से नहीं होता है। आप महल–मकान तो बना सकते हो किंतु स्वर्ग तो एक झोंपड़ी में भी उतर कर आ सकता है। यदि झोंपड़ी में रहने वाले व्यक्ति प्रेम से रहने लग जायें तो। जंगल में रहने वाला व्यक्ति वृक्षों से भी प्रेम करता है, सिंचन करता है तो लगता है वृक्ष भी उसे प्रेम कर रहे हैं। एक व्यक्ति जो वृक्षों से स्नेह करता था जब वह मृत्यु के सन्निकट हुआ तो वृक्ष की एक शाखा टूटी और व्यक्ति ने कहा बस मेरी मृत्यु का काल आ गया। कोई हवा का झोंका नहीं अचानक शाखा टूट कर गिर गयी, इसका आशय क्या? कई बार ऐसा होता है पशु उदास हो जाते हैं उन्हे आभास हो जाता है हमारा मालिक जाने वाला है, उनको इतना प्रेम हो जाता है कि मालिक के शांत होने पर शाम तक भोजन नहीं करते। जब उसे समझाओ–सांत्वना दो तब कुछ ग्रहण करता है तो वह मूक पशु भी जानता है प्रेम करना। पक्षी

भी प्रेम की भाषा जानते हैं। आपका पाला हुआ कोई भी पक्षी हो, घर से कोई भी चला जाये तो वह उदास हो जाता है। किंतु आज अपने ही व्यक्तियों के प्रति प्रेम की गली क्यो सूखती जा रही है। आज हम इतने गिरते क्यों चले जा रहे हैं कि व्यक्तियों का तो उपयोग करने लगे और वस्तुओं से प्रेम करने लगे हैं। यदि यह व्यवहार नहीं बदलेंगे तो निःसंदेह सुख–शांति को प्राप्त न कर सकेंगे। सुख का फार्मूला तो यही है कि वस्तुओं को नहीं व्यक्तियों को जोड़ें, टूटे हुये हृदयों को जोड़ें। उपयोग वस्तुओं का करें व्यक्तियों का नहीं। प्रेम व्यक्तियों से करें वस्तुओं से नहीं तभी हम जीवन में सुख और शांति को प्राप्त कर सकते हैं।

आप भी अपने सूत्रों को बदलें, और अपने जीवन को सुखी बनायें साथ ही दूसरों के सुखी जीवन के लिये आधार बनें ऐसी हम आपके प्रति मंगल भावना रखते हैं। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ.....।

।।श्री शांतिनाथ भगवान् की जय।।

।।जैनं जयतु शासनं–विश्वकल्याणकारकं।।

''जिसका जैसा स्वभाव वैसा प्रभाव''

महानुभाव! संसार में जितने भी द्रव्य हैं उन सभी की द्रव्यता अपने गुणों के आधार से है। उन गुणों का अपना अलग–अलग प्रभाव होता है। चैतन्य द्रव्य का प्रभाव चैतन्यरूप और अचैतन्य द्रव्यों का प्रभाव अचैतन्य रूप। प्रत्येक द्रव्य अपना प्रभाव सामने वाले द्रव्य पर छोड़ता है। ये बात अलग है सामने वाला द्रव्य उस द्रव्य से कितना प्रभावित हो किंतु प्रभाव छोड़ते जरूर हैं। आचार्य उमास्वामी जी महाराज ने तत्त्वार्थ सूत्र में उपकार लिखा है, जीव–जीव का उपकार करता है, पुद्गल भी जीवद्रव्य का उपकार करता है, धर्मद्रव्य भी जीव का उपकार करता है, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य व कालद्रव्य भी जीव का उपकार करता है। ये सभी जीव का उपकार करते हैं, जिसका जैसा लक्षण है वैसा करते हैं।

धर्मद्रव्य जीव को चलने में सहकारी होता है, अधर्म द्रव्य जीव के ठहराने में सहकारी है, काल द्रव्य जीव के परिणमन में सहकारी है और आकाश द्रव्य जीव को अवगाहन देता है, पुद्गल द्रव्य जीव को इष्ट–अनिष्ट वस्तुयें देता है, जीवन–मरण देता है, श्वासोच्छ्वास–आयु देता है इत्यादि प्रकार से अन्य द्रव्य भी जीव का उपकार करते हैं। तो जिस द्रव्य का जैसा स्वभाव है वह सामने वाले द्रव्य पर वैसा ही प्रभाव छोड़ता है। जैसा स्वभाव नहीं है वैसा सामने वाले पर छोड़ नहीं सकता। जैसे अग्नि का स्वभाव ऊष्णता है तो वह सामने वाले पदार्थ को ऊष्ण कर देगी, बर्फ का स्वभाव ठंडा है तो वह सामने वाले पदार्थ को ठंडा कर देगी। बर्फ की सिल्ली के ऊपर जो भी पदार्थ रखा है वह ठंडा हो जायेगा और कहीं अग्नि जल रही है उस पर तवा आदि कुछ भी चीज रखा है तो वह गर्म हो जायेगा। तो इससे सिद्ध होता है कि वस्तु का प्रभाव तो पड़ता ही है। जैसी वस्तु वैसा प्रभाव।

कई बार ऐसा होता है वस्तु दिखाई नही देती, उसका प्रभाव दिखाई देता है सूर्य दिखाई न दे किन्तु उसका उदय हो जाये तो भी रात्रि–अंधकार नष्ट हो जाता है। सूर्य का उदय तो हो गया किंतु सूर्य बादलों में छिपा हुआ है फिर भी अपना प्रभाव छोड़ रहा है और तो और थोड़ी गर्माहट भी होती है, सूर्य की किरण नहीं आये तब भी सूर्य का उदय होने से गर्माहट होती है। और रात्रि में भले ही अमावस्या क्यों न हो फिर भी शीतलता रहती है। सामने वाला व्यक्ति कैसे कपड़े पहनकर बैठा है, कपड़ों का प्रभाव उस पर पड़ता है जो कपड़ों को देखता है, शरीर का प्रभाव उस पर पड़ता है जो शरीर को देखता है, और व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रभाव उस पर पड़ता है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को देखता है। सब पर प्रभाव अलग–अलग पड़ता है। जैसे अग्नि के जलने से अंधकार तिरोहित हो गया तो अग्नि का वह प्रकाशगुण जिसने अंधकार दूर किया, अग्नि ने पृथ्वी को तपाया अग्नि का वह उष्ण गुण है, अग्नि का अगला गुण पाचकत्व उसने कच्चे अनाज को भून दिया तो उसका ये पाचकत्व गुण है। ऐसे उसके अलग–अलग गुण हैं तो जिसको जिस गुण की आवश्यकता हो वह उसके उस गुण का उपयोग करके अपना हित कर सकता है।

संसार में आज भी अच्छे व्यक्तियों की कमी नहीं है, संसार में आज भी अच्छाई और अच्छी वस्तुओं की कमी नहीं है किन्तु बात ये है उस अच्छाई को ग्रहण करने वाले, खोजने वाले व्यक्ति कम हो गये हैं। प्रत्येक काल में अच्छाई बुराई रहीं हैं, प्रत्येककाल में अच्छे–बुरे लोग रहे हैं, प्रत्येक काल में वस्तुओं का सद्भाव रहा है किंतु कौन किस वस्तु का उपयोग कैसा करता है, कौन किस व्यक्ति के माध्यम से अपना हित कर पाता है, कौन नहीं कर पाता है यह बात विशेष है, विचारणीय है। लिखा है वैदिक परम्परा में–

सकलपदारथ है जगमाहिं, पुण्यहीन नर पावत नाहिं।
आज भी इष्ट पदार्थ हैं जिनका पुण्य का उदय है उन्हें इष्ट वस्तु की प्राप्ति हो रही है, जिसका पाप का उदय है उसके लिये वही वस्तु अनिष्ट बनकर दुःख दे रही है। एक ही वस्तु किसी को इष्ट लग रही है, किसी को अनिष्ट। किसी व्यक्ति की इच्छा हो रही थी कि आज मुझे भोजन में रोटी मिले, तो वह रोटी चाह रहा है और दूसरा व्यक्ति जिसे रोटी सहज मिल रही है वह सोच रहा था अब मैं वहाँ जाऊँगा तो मुझे पूड़ी मिलेगी, बहुत सारे व्यंजन मिलेंगे आनंद आयेगा। वह यह मन में सोचकर चला। दोनों एक ही जगह पहुँचे, माना दोनों साढू–साढू थे ससुराल में गये, तो एक व्यक्ति का तो रोटी सब्जी देखकर चेहरा बिगड़ गया और दूसरा कह रहा है वाह! क्या बात है मैं सोचकर चला था मेरा पेट खराब हो रहा है आज रोटी मिल जाये या हल्का–फुल्का दलिया मिल जाये तो अच्छा रहे वह मिल गया। उसी भोजन को प्राप्त करके एक को तो आनंद आ रहा है एक दुःखी हो रहा है। वस्तु एक ही है।

ऐसे ही पुण्यात्मा व्यक्ति को जो वस्तु इष्ट लग जाये तो उससे वह सुख का अनुभव करता है, वही वस्तु किसी को अनिष्ट लग जाये तो दुःख का अनुभव करता है। वही व्यक्ति जब दूसरी बार ससुराल पहुँच जाये, जो पुण्यात्मा व्यक्ति था वह सोचता है जो मिले सो ठीक है। कल शाम को भोजन नहीं कर पाया, भूख तो कड़ाके की लग रही है, गरिष्ट भी मिले तो भी चलेगा। दूसरा व्यक्ति साढू उसका पेट खराब था। दोनों को आना था आज सास ने अनेक व्यंजन बना दिये पूड़ी सब्जी, हलवा, खीर सब रखा है। उसे देखकर दुःख हो रहा है कि मेरा पेट वैसे ही खराब हो रहा है मेरी इच्छा तो खिचड़ी खाने तक की नहीं हो रही है, मैं तो आ ही नहीं रहा था, मुझे तो आना पड़ा ये सब मुझे बीमार करना

चाहते हैं, वह दुःखी हो रहा है। दूसरा कह रहा है आज तो आनंद आ गया, क्या ससुराल वालों ने खातिर की, आनंद आ गया।

तो वस्तु वही थी दोनों बार, जिसका पाप का उदय था उसने उस समय उस वस्तु से संक्लेशता बनायी, अब इससे संक्लेशता बनायी, जिसका पुण्य का उदय था उसे उस समय वही वस्तु इष्ट थी, आज यह वस्तु इष्ट थी। महानुभाव! वस्तुओं का प्रभाव रहता है, वस्तु जैसी होती है प्रभाव वैसा ही छोड़ती है। दोनों वस्तुयें सुख की निमित्त हो सकती हैं और दोनों दुःख की निमित्त हो सकती हैं किंतु यह अपने ऊपर भी निर्भर करता है। पुष्पों ने सुगंध छोड़ी और सड़े–गले पदार्थों ने बदबू छोड़ी। एक बदबू के बीच में रहकर भी आनंदित है सोच रहा है वहाँ तो इतनी बदबू थी कि बैठना मुश्किल था यहाँ कम से कम बैठ तो पा रहे हैं वह इसमें भी आनंदित है। और एक व्यक्ति पुष्पों के बीच से आया वहाँ खुशबू आ रही थी, यहाँ खुशबू थोड़ी कम है तो वहाँ पर भी दुःखी हो सकता है। तो पुष्पों ने व सड़े–गले पदार्थों ने अपना–अपना स्वभाव नहीं छोड़ा। 'राष्ट्रशांति महायज्ञ' नाम का ग्रंथ है जिसमें लिखा है–

जस्सिं खेत्तम्मि विज्जंते, वदी चागी दियंबरा
तस्सिं दया सुहं संती, णियमेण पवड्ढदे।।79।।

कहने का अभिप्राय है–जिस क्षेत्र में व्रती, त्यागी, दिगम्बर मुद्राधारी विराजमान रहते हैं। जहाँ पापों से विरक्त, अहिंसाणुव्रती, सत्याणुव्रती, अचौर्याणुव्रती, बह्मचर्याणुव्रती, परिग्रहपरिमाणाणुव्रती, गुणव्रतों का पालन करने वाले, दिग्व्रत–देशव्रत की मर्यादा, अनर्थदण्डव्रत धारी आदि व्रतों का पालन करने वाले, सामायिक करने वाले, प्रोषधोपवास व्रत करने वाले, अतिथिसंविभाग व्रत का पालन करने वाले, भोग और उपभोग की मर्यादा रखने वाले ऐसे

12 व्रतों का पालन करने वाले, व्रतियों की संख्या जिस समाज में ज्यादा रहती है उस समाज में धर्म का माहौल रहता है।

पूरी समाज संस्कारवान् होती है। जिस समाज में स्वाध्याय करने वाले व्यक्ति ज्यादा होते हैं। उस समाज से कोई व्यक्ति जेल में नहीं जाता, उस समाज में रोग कम होते हैं। जिस समाज में पूजा–अभिषेक करने वाले व्यक्ति ज्यादा होते हैं उस समाज में निर्धन व्यक्तियों की संख्या कम रहती है। जिस समाज में साधुओं की सेवा करने वाले व्यक्ति ज्यादा होते हैं उस समाज में व्यक्ति आदर्श स्थापित करने वाले होते हैं। किसी को राष्ट्रपति पुरस्कार मिल रहा है, किसी को भारत सरकार से, किसी को राज्य सरकार से पुरस्कार मिला, किसी को किसी और क्षेत्र में। ऐसे एक समाज में 10–10 पुरस्कार जा रहे हैं तो कहीं न कहीं कोई विशेषता है।

महानुभाव! जहाँ व्रती होते हैं वहाँ का वातावरण बदल जाता है। उनकी वर्गणाओं से माहौल में अंतर आता है। अभक्ष्य का त्याग करने वाले, व्यसनों का त्याग करने वाले, पापों का त्याग करने वाले, आर्त्त–रौद्र ध्यान का त्याग करने वाले 'त्यागीजन' जिस समाज, समूह, समुदाय में रहते हैं उसका प्रभाव पड़ता है। केवल मनुष्यों पर नहीं पशु–पक्षियों पर भी पड़ता है। वे जहाँ बैठें वहाँ सभी शांति का अनुभव करते हैं। एकइंद्रिय वृक्ष भी शांति का अनुभव करते हैं। प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

'दिग्यंबरा' दिगम्बर संत जिस समाज में प्रवास करते हैं वहाँ पर निःसंदेह सुख और शांति रहती है, ऐसा लगता है उतने दिन के लिये स्वर्ग धरा पर उतर आया हो। मराठी कहावत है'

साधु संत जेती धरा, होली दीवाली तेती धरा।

जिस क्षण साधु संत नगर में आ जायें, अपने निकटवर्ती मंदिर में आ जायें या अपने घर आहार करने आ जायें उस क्षण

ऐसा लगता है होली, दीवाली, दशहरा रूपी पर्व एक दिन ही अपने घर पर चलकर आ गये हो। उनका प्रभाव रहता है और स्वतः ही उनके सामने त्याग की भावना भी बनती है। आचार्य महोदय कहते हैं कि साधु संत भी उस समाज में ठहरते हैं जिस समाज में साधर्मी बंधु हों। जहाँ उनकी चर्या का पालन कराने वाले व्यक्ति हों, जिस समाज में उनसे धर्मलाभ लेने वाले व्यक्ति हों, जिस समाज में साधु संतों के महत्व को समझने वाला श्रावक समूह/संघ हो। अन्यथा साधु क्या करेंगे? नदी की धारा की तरह से बढ़ते चले जायेंगे। पानी भी वहाँ ठहरता है जहाँ गड्ढ़ा हो, थोड़ा झुकाव हो इसी तरह जहाँ समाज का झुकाव हो समाज की विनम्रता हो, निष्ठा–समर्पण हो, तो नदी की तरह से बहते हुये साधु समूह को भी रोक लेता है। समाज का जब विशेष लगाव होता है तो साधु भी उस समाज को छोड़कर नहीं जाते कुछ समय देते हुये जाते हैं। वह सोचते हैं धर्मात्मा समाज है, उनको भी लाभ मिलना चाहिये। जिस समाज में जागरूकता होती है, उस समाज में साधु की साधना भी वृद्धि को प्राप्त होती है। समाज बड़ी भले ही हो पर जागृति न हो तो समाज को ऐसा न लगे कि साधु भारभूत हो गये इसलिए साधु दूर से ही चला जाता है।

यहाँ कह रहे हैं दिगम्बर साधु वहीं जाते हैं जहाँ उत्तम श्रावक हों, उत्तमदाता हों, जहाँ पर स्वाध्याय प्रेमी विद्वान हों, जहाँ पर प्राकृतिक वातावरण अनुकूल हो। साधुओं के वहाँ जाने से वहाँ का वातावरण भी बदलता चला जाता है जैसे पुष्पों के आने से वातावरण सुगंधित हो जाता है, कमरे में इत्र छिड़क दो तो कमरा सुगंधित हो जाता है ऐसे ही वहाँ का वातावरण बदल जाता है। 'तस्मिं दया सुहं संती' जहाँ पर व्रती–त्यागी पुरुष, दिगंबर संत रहते हैं वहाँ पर दया का प्रसार होता है, वहाँ पर दया वृद्धि को

प्राप्त करती है। वहां दया की जड़ें गहरी हो जाती हैं उस समाज में सुख की लहर आ जाती है। तेज हवा के चलने से नदी, समुद्र, तालाब या झील आदि में लहरें उठने लगती हैं, ठीक वैसे ही व्रती त्यागी पुरुषों के माध्यम से भी समाज में आनंद की लहरें उठने लगती हैं। त्याग की प्रवृत्ति बढ़ने लगती है और तो और साधुओं के प्रभाव से समाज में शांति होती है।

जब साधु नहीं थे तब समाज में खीच–तान चल रही थी, कमेटी में झगड़ा हो रहा है, समाज के व्यक्ति रूठकर बैठ गये कोई–कुछ कर रहा है कोई कुछ और साधु के आने पर सब अपने मनोविकारों को भूल गये। सब बैर भाव छोड़कर के प्रेम वात्सल्य के साथ धर्मामृत का पान करने लगे जैसे गाय–सिंह एक घाट पर पानी पीने लगे हों, इतना आनंद कि गाय का बछड़ा सिंहनी का दूध पीने लगा, सिंहनी का बच्चा गाय का दूध पीने लगा। सर्प–नेवला, मयूर–सर्प आपस में प्रेम क्रीड़ा करने लगे। आचार्य विद्यानंद जी महाराज कई बार समझाते थे कि साधुवर्ग समाज में जाकर इतना प्रभाव न छोड़ पायें कि गाय–सिंह एक घाट पर पानी पीयें या सर्प–नेवला एक साथ रह पायें तो कम से कम इतना तो साधुओं को समाज में जाकर कर देना चाहिये कि दो भाई तो कम से कम अलग–अलग न बैठें, दो भाई एक साथ एक थाली में भोजन कर सकें।

साधुओं के रहने से श्रावक को जो भी मिला वह श्रावक जाने किंतु साधुओं को अच्छी समाज मिल जाये तो निःसंदेह साधना में बहुत वृद्धि होती है और साधु ऐसी समाज देखते हैं जहाँ उनकी साधना में वृद्धि हो। वे 8 महीने तो विहार करते जाते हैं किंतु चातुर्मास के चार माह वहाँ बैठना चाहते हैं जहाँ बैठकर के उनके तप में वृद्धि हो, संयम, ज्ञान, ध्यान, जप आदि में वृद्धि हो और श्रावकों के लिये पुण्य का लाभ हो।

यहाँ ग्रंथकार कह रहे हैं कि दिगंबरसंत, त्यागी व्रती जहाँ निवास करते हैं वहाँ दया, सुख–शांति नियम से वृद्धि को प्राप्त होती है क्योंकि जो जैसा होता है वह वैसा प्रभाव छोड़ता है। आपके जीवन में भी इन गुणों की वृद्धि हो ऐसी भावना आपके प्रति रखते हैं। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ.....।।

।।श्री शांतिनाथ भगवान् की जय।।

।।जैनं जयतु शासनं–विश्वकल्याणकारकं।।

पहचानें समय की कीमत

महानुभाव! पुरुष वह होता है जो पुरुषार्थ करे, पुरुषार्थ करने वाला पुरुष श्रेष्ठ गुणों को भोगने वाला होता है। आ. भगवन् नेमिचंद्र सिद्धान्त चक्रवर्ती जी ने गोम्मटसार जीवकांड जी में पुरुष को परिभाषित करते हुए कहा–

पुरुगुणभोगो सेदे, करेदि लोयम्मि पुरुगुणं कम्मं।
पुरुउत्तमो य जह्मा, तह्मा सो वण्णिओ पुरिसो।।273।।

जो उत्तम गुण और उत्तम भोगो में स्वामीपने का अनुभव करता है, जो लोक में उत्तम गुणयुक्त कार्य करता है और जो उत्तम है, वह पुरुष है।

वह पुरुष जब तक पुरुषार्थी नहीं होता तब तक अपने प्रयोजन को सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता तब तक वह पुरुष होते हुये भी केवल आकृति से पुरुष माना जाता है प्रकृति से नहीं। संसार में ऐसे बहुत सारे मनुष्य हो सकते हैं जिन्हें आकृति से पुरुष कहें किंतु प्रकृति से पशु जैसे भी हो सकते हैं।

एक महात्मा के पास कोई शिष्य था, भिक्षा ग्रहण करने के लिये जाने लगा तो महात्मा ने उससे कहा–एक चश्मा ले जाओ और चश्मे में देख लेना जो आपको मनुष्य दिखाई दे उससे भिक्षा माँग लेना। उस महात्मा का चेला भिक्षा लेने के लिये चला, और चलता चला गया। उसने बिना चश्मे के देखा कि मनुष्यों की बहुत बड़ी कतार है, कोई दुकान पर बैठा है, कोई बाजार मे चल रहा है, कोई माल बेच रहा है, कोई खरीद रहा है बहुत बड़ी भीड़ है। उसने अपना चश्मा निकाला और चश्मा लगाते ही उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। उसे चश्मे में दिखाई दिया कि इनका चेहरा मनुष्य जैसा नहीं है किसी का चेहरा बिल्ली जैसा है, किसी का गीदड़ जैसा, किसी का भालू जैसा, किसी का

बंदर जैसा, किसी का गधा जैसा तो किसी का चीता, हाथी, शेर तरह–तरह के दिखाई दे रहे हैं। वह देखता है कि किसी एक का चेहरा तो मनुष्य जैसा दिखाई दे, किंतु नहीं दिखाई दिया।

वह आगे बढ़ता गया–बढ़ता गया। झोंपड़ी में रहने वाला एक व्यक्ति जो जंगल में जाकर लकड़ी लाता था, लकड़ी बेचकर के जो कुछ भी अनाज आता उसे पकाकर भोजन करता। वह भोजन बना ही रहा था उसने 5–6 रोटी बनाई और सोचा मेरे लिये इतनी पर्याप्त हैं। तब तक वह चेला भी वहाँ पहुँचा उसने झोंपड़ी वाले मनुष्य से कहा–भिक्षाम् देहि''। उस झोंपड़ी वाले ने स्वयं के लिये बने भोजन में से उसे भोजन दे दिया। वह चेला आधा भोजन लेकर के थोड़ी देर और खड़ा रहा उस व्यक्ति ने सोचा शायद इसकी क्षुधा इससे शांत न होगी, मुझे कोई बात नहीं मैं आज पानी पीकर के रह जाऊँगा, शायद ये कई दिनों से भूखा है कह नहीं सकते कब से भोजन नहीं किया, इसकी तृप्ति हो जाती तो ये भोजन लेकर के चला जाता। उस व्यक्ति ने अपनी छः की छः रोटी उसे दे दी। वह चेला चला गया। झोपंड़ी वाले व्यक्ति ने पानी पीया और प्रभु का नाम लेकर विश्राम करने लगा।

चेला महात्मा के पास गया और बोला महात्मा जी ये भोजन लेकर आया हूँ। इस चश्मे में तो न जाने क्या करामात है मुझे कोई मनुष्य दिखाई ही नहीं दिया, इसको बिना लगाए मैंने भीड़ भरे बाजार में देखा तो अनेक लोग थे और ज्यों ही चश्मा लगाया तो उनके चेहरे बदल गये, जो आकृतियाँ मनुष्यों की दिखाई देती थी चश्मे में चेहरे पशुओं जैसे दिखाई देने लगे। महात्मा जी ने कहा–उन व्यक्तियों की जो प्रकृति उस समय थी (जिस समय आपने देखा था) उस चश्मे में वही चेहरा दिखाई देता है। और जिस समय उसकी प्रकृति मानव जैसी होती है तो मानवाकृति दिखाई देता है। चेले ने कहा मैं झोंपड़ी वाले व्यक्ति से मिला

तो उसका चेहरा मनुष्य जैसा दिखाई दिया संभव है वह संतोषी प्राणी होगा। अपने परिश्रम पर, पुरुषार्थ पर विश्वास करने वाला होगा, उसे दूसरे का हिस्सा न चाहिये, ईमानदारी से आजीविका कमाने वाला होगा। उसने महात्मा जी को बताया उसके पास कोई धन–सम्पत्ति नहीं थी एक छोटी सी झोपड़ी थी, वहीं खाट पड़ी थी, बगल में चूल्हा था, जहाँ वह रोटी बना रहा था, जैसे ही मैं वहाँ पहुँचा मेरे द्वारा भिक्षा माँगते ही उसने अपने भोजन में से तीन रोटी मुझे दे दीं, जब मैं थोड़ी देर खड़ा रहा तो उसने शेष बची तीन रोटी भी दे दीं। निःसंदेह वह मानव नहीं महामानव ही हो सकता है जो दूसरों का दुःख दूर करने के लिये अपना सुख छोड़ सकता है।

महानुभाव! संसार में जितने भी प्राणी हैं उनमें से अधिकांश प्राणी सोचते हैं कि मैं अब चैन से बैठकर खाऊँ। भारतीय लोगों में एक प्रवृत्ति है वे कहते हैं मैं पहले छः घंटे काम कर लूँ फिर बाद में 16 घंटे चैन से बैठ लूँ। युवावस्था में खूब मेहनत कर लूँ, जीतोड़ मेहनत कर लूँ, पुनः वृद्धावस्था में उस फल का भोग करूँ, तब मुझे कुछ नहीं करना पड़े। तो ये प्रवृत्ति धर्म के अनुसार नहीं है, ध र्म कहता है हमेशा पुरुष को उद्यमशील व पुरुषार्थी होना चाहिये। ऐसा नहीं कि एक साथ मेहनत करके बाद में निरुद्यमी हो जाये। पुरुषार्थ शील रहने से उसका शरीर भी स्वस्थ रहता है और उसे संचय का दोष भी नहीं लगेगा और निरंतर ग्रहण करते रहने से उस व्यक्ति को रक्षा की चिंता भी नहीं रहेगी, वह पुण्य कार्य भी कर सकेगा और दूसरों का उपकार भी कर सकेगा, क्योंकि संचय किया हुआ द्रव्य आपके भोगने में आये यह जरूरी नहीं है। यदि पुण्य क्षीण हो गया तो संचय किया हुआ नष्ट हो जाता है, हम उसे भोग नहीं पाते, कोई दूसरा ही उसे भोग लेता है। पुण्य अपने पास है तो पुनः भोगने के लिये अवश्य मिलता है। संचय किया

धन क्रम–क्रम से नष्ट हो जाता है। कहते हैं राजा के खजाने भी खाली हो जाते हैं। यदि व्यक्ति काम न करे तो राजा का खजाना कितना ही बड़ा क्यों न हो वह खाली हो जाता है। चाहे क्रम–क्रम से एक–एक दाना भी निकालते जाओ तो भण्डार के भण्डार भी खाली हो जाते हैं। एक–एक कंकड़ खत्म करते जाओ तो पूरे का पूरा पहाड़ भी खत्म हो जाता है। नीतिकार कहते हैं–

अंजनस्य क्षयं दृष्ट्वा, वल्मीकस्य च संचयं
अवंध्यं दिवसं कुर्यात् दानाध्ययन, कर्मसु

एक–एक पल निकलते ही घड़ी निकलने लगती है, एक–एक घड़ी से पहर निकलने लगते हैं, पहर से दिन निकल जाते हैं। दिन निकलते–निकलते सप्ताह, पक्ष, मास निकल जाते हैं। महीनों के निकलते–निकलते वर्ष भी निकल जाते हैं वर्ष के बाद युग, शताब्दी, सहस्राब्दी आदि भी निकल जाती हैं। समय बीतता चला जाता है चाहे किसी मनुष्य की आयु 60 वर्ष की है या 70,80,90,100 या ज्यादा किंतु उसे बाद में पश्चाताप होता है, अरे! मेरा जीवन कब निकल गया, इतना समय कब बीत गया।

तो महानुभाव! समय बीतता हुआ दिखाई नहीं देता, अपना बढ़ता शरीर दिखाई नहीं देता, समीप आता काल दिखाई नहीं देता मृत्यु जब सन्निकट होती है तब उसे अहसास होता है मैंने कुछ कर नहीं पाया। किंतु आयु कर्म किसी का अनंत नहीं होता आयु कर्म का क्षय होता है। आयु कर्म के निषेक एक–एक करके झरते चले जाते हैं जैसे कलश में भरा हुआ पानी, उसमें छोटा सा छिद्र हो तो छिद्र से पूरा पानी निकल जाता है, यदि किसी वाहन में हवा भरी हुयी है बहुत बारीक छेद होकर वह लीक हो जाये तो उसमें से शनैः–शनैः पूरी हवा निकल जाती है। ऐसे ही हमारे आयु कर्म के निषेक झर जाते हैं, खजाने खाली हो जाते हैं। दृष्टांत देते हुये आचार्य महोदय समझा रहे हैं–

काजल की डिब्बी में बहुत सारा काजल है, थोड़ा सा उसमें से छुला करके नारी अपने सौन्दर्य को बढ़ाने के लिये अपनी आँखों में लगाती है किंतु थोड़ा–थोड़ा सा छुलाकर के वह निकलता जा रहा है एक दिन आता है कि अंजन की पूरी डिब्बी खाली हो जाती है। 'अंजनस्य क्षयं दृष्ट्वा' उस काजल की डिब्बी में काजल का क्षय देखा जाता है। 'वल्मीकस्य च संचयं 'बल्मीक' बामी को कहते हैं। चींटी समतल जमीन पर कहीं वृक्ष के पास किसी एक कण को अपने पैरों से उठाती है उसे नीचे खिसकाती है, फिर दूसरा उठाती है व खिसकाती है, बार–बार उठाती जाती है और रखती जाती है। वह चींटी एक–एक करके जड़ों में छेद बना लेती है और एक–एक–कण के रखने से बहुत ऊँची बामी बन जाती है। वह बामी एक दिन में नहीं बनी उसमें समय लगा। ऐसे ही आचार्य महाराज यहाँ समझाना चाहते हैं कि जैसे कज्जल की डिब्बी से कज्जल खत्म हो जाता है, वैसे ही हम यदि अपने एक–एक पाप को नष्ट करते चले जायें तो एक दिन हमारे समग्र पाप नष्ट हो सकते हैं।

हम चित्त की एक–एक कालिमा को प्रक्षालित करते चले जायें तो हमारा चित्त निर्मल, धवल, विमल हो सकता है। चाहे कोई कितना बड़ा पापी हो, एक निगोदिया जीव भी मोक्ष जा सकता है, एक नारकी जीव भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अत्यंत पापी जीव भी यदि संकल्प ले ले, कि उसे संसार सागर से पार होना है तो वह भी पार हो सकता है। बस संकल्प कर ले। वह यदि ये सोचे कि मुझे जब मोक्ष मिलना होगा तब मिल जायेगा तो मोक्ष कभी भाग्य से नहीं मिलता मोक्ष तो पुरुषार्थ करने से मिलता है। हाथ पर हाथ रखकर भाग्य के भरोसे बैठने से मोक्ष तो क्या पेट भर भोजन भी नहीं मिलेगा। सामने थाली में रखा भोजन भी नहीं मिलेगा उसके लिये भी हाथ बढ़ाकर पुरुषार्थ करना पड़ेगा।

दूसरी बात कही 'वल्मीकस्य च संचयं' एक–एक गुण का भी यदि संचय करते जायें तो जीवन में वह अवस्था भी आ जाती है जब हमारा जीवन गुणों का कोष बन जाता है। अपना जीवन सद्गुणों का 'आकर' बन जाता है। एक–एक बूंद से समुद्र भर सकता है, एक–एक ईंट से महल बन सकता है, एक–एक वृक्ष लगाने से पूरा उद्यान बन सकता है, एक–एक पैसा जोड़ने से व्यक्ति धनी बन जाता है, एक–एक कण जोड़ने से वह बामी बन जाती है तो ऐसे ही व्यक्ति हिम्मत न हारे। व्यक्ति को जीवन में कभी हताश–निराश–उदास होने की आवश्यकता नहीं है वह आशावान् बना रहे, संकल्प के साथ आगे बढ़े तो उसके लिये कुछ भी असंभव नहीं है। संकल्पशील के साथ विश्व की सभी शक्तियाँ रहती हैं और जिस व्यक्ति का संकल्प शिथिल है, यानि जो विकल्पों में जी रहा है। विकल्प का आशय है 'वि' याने दो, कल्प यानि कल्पना। जिसके मन में दो कल्पनायें चल रही हैं कि ऐसा करूँ या वैसा। उभयकोटि स्पर्शी संशय ज्ञान होता है, जो सदैव इस संशय के साथ जीता है वह विनष्ट हो जाता है। विकल्पों में रहने वाला व्यक्ति सदैव झूलता रहता है स्वयं में स्थिर नहीं रह पाता किंतु जो सुमेरु की तरह स्थिर हो गया उसे प्रतिकूलता की आँधी कभी भी हिला नहीं सकती, उसे कोई नहीं हिला सकता।

हम शाख के वे पत्ते नहीं हैं जो हवा का एक झोंका चला और टूटकर बिखर गये। ''ऐ तूफानों! जरा औकात में रहना'' संकल्पशील व्यक्ति यही कहता है कि मैं संकल्प के साथ आगे बढ़ा हूँ। प्रतिकूलताओं का तूफान–आँधी भी आ जाये तब भी मेरा बाल–बाँका नहीं कर सकती। मैंने एक कदम रख दिया अब सुमेरु पर्वत की तरह से पीछे हट नहीं सकता आगे ही बढ़ना हैं चाहे देर से ही सही वह पीछे वाला कदम अब आगे आ जायेगा।

तो यहाँ कह रहे हैं संकल्पशील व्यक्ति किसी भी लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो जाता है।

महानुभाव! आगे आचार्य महाराज कह रहे हैं–जो प्राप्ति के इच्छुक हैं उन्हें दान करना चाहिये। क्या दान करना चाहिये? ज्ञान के आकांक्षी को ज्ञान का दान धन के आकांक्षी को धन का दान, उत्तम भोगों के आकांक्षी को उत्तम भोगों का दान, अभय के आकांक्षी को अभय दान, आरोग्य के आकांक्षी को आरोग्य प्रदत्त औषधि का दान। जिसको जो चाहिये उसको वह अच्छे भावों से दान करें तो वह वस्तु quantity और quality में कई गुना होकर प्राप्त होती है। आपने जब दी तब वह सामान्य थी किंतु जब वह मिलेगी तो विशेष वस्तु प्राप्त होगी। एक ही, कई गुनी होकर प्राप्त होगी। दूसरी बात कही 'अध्ययन'। ''अज्ञान का अंधकार लाठी मारने से नहीं भागता इसके लिये तो दीपक जलाना पड़ता है। यदि आपका कक्ष बहुत बड़ा है कई किलोमीटर लम्बा–चौड़ा है तो एक मोमबत्ती के प्रकाश से पूरे कक्ष में प्रकाश नहीं किया जा सकता, इसलिये पग–पग पर मोमबत्ती जलाना जरुरी है अर्थात् हमारी असंख्यात् प्रदेशी आत्मा में जो मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम का अंधकार विद्यमान है तो केवल एक बात पढ़ ली उससे समग्र ज्ञान की प्राप्ति न होगी, निरंतर स्वाध्याय करते रहो। अच्छी बातों का मुहुर–मुहुर चिंतन करते रहो, बार–बार उन्हें अपने जीवन में धारण करते रहो। अच्छी बातों को दूसरों को देते रहो और दूसरों को अच्छी बातों को विनम्रता से ग्रहण करना सीखो।

अच्छे व्यक्ति सदैव अच्छी बातें ग्रहण करते हैं बुरी नहीं। बुरे व्यक्तियों के कोष में सदैव बुरी बातें भरी रहती हैं। कोई अशिष्ट व्यक्ति आकर गाली–अपशब्द बोलता है तो बुरे व्यक्ति अपने कोष में उन अपशब्दों को रख लेते हैं अच्छे व्यक्ति उन बातों को तुरंत

भूल जाते हैं। सम्यग्ज्ञानी व्यक्ति कोई धर्म की ज्ञान की चर्चा करता है तो वह उन शब्दों को ग्रहण कर लेता है। एक–एक व्यक्ति से एक–एक अच्छी बात ग्रहण करता जाये, एक–एक पुस्तक से एक–एक अच्छी बात ग्रहण करता जाये, एक–एक शास्त्र के माध्यम से एक–एक व्रत और गुण–ग्रहण करता जाये तो उसका जीवन महान् बन जाता है। इसलिये मानवों को, सज्जनों व धर्मात्माओं को, विवेकीजनों को, आत्महितार्थियों को अपना समय दान और अध्ययनादि में ही व्यय करना चाहिये। क्योंकि यदि आपने समय का दुरुपयोग किया है तो समय निकल जाता है वह पुनः लौटकर आने वाला नहीं है। समय का हमें सदुपयोग करना है। समय का सदुपयोग करना ही जीवन का सदुपयोग करना है, क्योंकि समय ही जीवन है। जो व्यक्ति समय का सदुपयोग नहीं करते निःसंदेह वे अपने जीवन का सदुपयोग करना नहीं जानते और जिसने अपने जीवन का दुरुपयोग किया है वह संसार की किस वस्तु का सदुपयोग कर सकता है?

जीवन का दुरुपयोग करना जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है इसीलिये अपने जीवन का सदुपयोग करो। जीवन का सदुपयोग करने की कला ये ही है कि समय का सदुपयोग करें। एक–एक मिनट को ये मानकर जीयें कि करोड़ों स्वर्ण मुद्रा देने पर भी यह समय, यह पल, विपल, विपलांश भी प्राप्त नहीं हो सकता। चला गया तो चला ही गया। जीवन की एक श्वॉस भी हमने गवाँ दी तो पुनः वह कभी भी लौटकर आने वाली नहीं है जो आयु कर्म का एक निषेक गल गया वह अब दुबारा उसमें चिपकने वाला नहीं है, निःसंदेह वह गया सो गया। नदी में जो पानी बह गया वह कभी लौटकर आने वाला नहीं है। अतः जीवन के प्रत्येक क्षण को उत्साह, जागरुकता, आनंद–उल्लास के साथ, सकारात्मक ऊर्जा के साथ जीना चाहिये। आनंद–आनंद की वृद्धि करता

है, संक्लेशता से संक्लेशता वृद्धि को प्राप्त होती है। सड़े–गले पदार्थों में से बदबू आती है उसके सपंर्क में अन्य अच्छे पदार्थ भी आ जायें तो वे भी बदबू को ही पैदा करने वाले होते हैं बदबू बढ़ती चली जाती है और पुष्पों की टोकरी में वस्त्र भी डाल दें तो वस्त्र भी सुगंधित हो जाता है, वह वस्त्र जहाँ भी रखें वहीं सुगंधी फैल जाती है अर्थात् अच्छे संस्कारों से अच्छे संस्कार वृद्धि को प्राप्त होते हैं और बुरे संस्कारों से बुरे संस्कारों की वृद्धि होती है।

आप सभी अपने समय का सही सदुपयोग करें, सुसंस्कारों को प्राप्त करें, संसार–शरीर–भोगों की असारता को जानें, अपनी आत्मा को पहचानें, अपने जीवन को पहचानें जिससे आप अपने सम्यक् लक्ष्य को प्राप्त कर सकें, अपनी आत्मा को परमात्मा के साँचे में ढाल सकें ऐसी कला, विद्या, शक्ति, सामर्थ्य आपके पास हो ऐसी हम आपके प्रति मंगल भावना भाते हैं, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ.....।।

।।श्री शांतिनाथ भगवान् की जय।।

।।जैनं जयतु शासनं–विश्वकल्याणकारकं।।

श्रेष्ठ वक्ता–श्रोता

महानुभाव! संसार में जो कुछ भी प्राप्त होता है वह प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता और पुरुषार्थ से प्राप्त होता है। यदि कदाचित् बिना योग्यता व पुरुषार्थ के कोई वस्तु प्राप्त हो जाती है तो वह व्यक्ति उसे भोगने में समर्थ नहीं होता है। जो जिस पद पर आसीन है उस व्यक्ति की उस प्रकार की योग्यता हो तभी वह उस पद को सुशोभित करता है, सम्मान को प्राप्त करता है, श्रद्धा का पात्र बनता है, समाज के लिये वह एक आदर्श माना जाता है। जिसकी जिस पद में निष्ठा है, जिस पद पर आसीन है उसके प्रति पूर्ण समर्पित है और ईमानदारी से कार्य करता है तो उसे पद पर रहते हुये भी सुख–शांति का अनुभव रहता है। वह अनुकूलता का वेदन करता है, उसे उसमें भी स्वर्ग जैसा आनंद आने लगता है। किंतु कोई व्यक्ति अपने पद पर आसीन होकर अपने पद के अनुकूल प्रवृत्ति न करे, क्रिया–व्यवहार न करे, वचनालाप–चिंतन न करे तो निःसंदेह पद कितना भी उच्च क्यों न हो उस पद के प्रतिकूल चलने पर वह तिरस्कार का, निंदा का, अपमान का पात्र होता है, घृणा और करुणा का पात्र बन जाता है, उसकी प्रवृत्ति दीन–हीन हो जाती है। अपने पद का दुरुपयोग करके वह स्वयं ही अपने जीवन को दुःखी बना लेता है और दूसरों के लिये भी कलह का कारण बन जाता है।

महानुभाव! यदि अध्यापक के पास उसकी योग्यता नहीं है वह पढ़ाने में असमर्थ है तो वह अध्यापक भले ही विद्यार्थी से बड़ा है किंतु योग्य अध्यापक नहीं है तो वह विद्यार्थियों से सम्मान प्राप्त नहीं कर सकेगा। विद्यार्थी में भी विद्या ग्रहण करने की रुचि नहीं है, तब निःसंदेह अध्यापक कितना भी अच्छा क्यों न हो वह विद्यार्थी को पढ़ाने में असमर्थ होगा। स्वामी कितना भी

करुणाशील–दयालु चित्त हो यदि सेवक उसकी उचित सेवा नहीं कर रहा है तो वह स्वामी से लाभ नहीं ले पायेगा। यदि सेवक पूर्ण निष्ठा से अपने कर्तव्य का पालन कर रहा है किंतु वह स्वामी अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर रहा है तो वह उससे लाभ लेने में असमर्थ है और स्वामी को भी सेवक की सेवा से लाभ नहीं हो सकेगा, आनंद का अनुभव न हो सकेगा।

संसार में यू तो किसी भी काल में वक्ता और श्रोताओं की कमी कभी नहीं रही। वक्ता भी बहुत रहे और श्रोता भी बहुत रहे। यद्यपि प्रत्येक काल में श्रोताओं की कमी जरुर रही है किंतु वक्ताओं की नहीं। वचन बोलने की शक्ति दो इंद्रिय से संज्ञी पंचेन्द्रिय सभी जीवों की है किंतु सुनने की शक्ति केवल पंचेन्द्रिय जीवों में पायी जाती है। इसलिये जैन दर्शन के अनुसार वक्ता तो बहुत हो सकते हैं किन्तु श्रोता बहुत कम होते हैं। कल्याण श्रोता का नियम से होता है वक्ता के कल्याण का नियामक संबंध नहीं है। जब तक वह वक्ता पूर्व में श्रोता न बना हो उसने सुनकर के अपनी श्रद्धा को सम्यक् न किया हो, सम्यक्मार्ग में श्रम न किया हो, वह श्रद्धा, विवेक, क्रिया से युक्त श्रावक न बना हो या उसने श्रद्धापूर्वक श्रमण के वचनों को न सुना हो ऐसा वह श्रोता अपना कल्याण नहीं कर सकता और वह वक्ता तो बन ही नहीं सकता। उत्तम श्रोता बने बिना कोई भी उत्तम वक्ता बन ही नहीं सकता, जैसे कोई योग्य शिष्य बने बिना योग्य गुरु नहीं बन सकता, योग्य सेवक बने बिना कोई योग्य स्वामी नहीं बन सकता। आज अगर कोई स्वामी है तो कल जरूर उसने किसी की सेवा की होगी, वह आज भी कहीं अपने आराध्य की सेवा कर ही रहा होगा। तीन लोक के नाथ के आगे किंकर की तरह खड़े होने वाला सौधर्म इन्द्र वह भी अपने सेवकों से सेवा को प्राप्त करता है। तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि महापुरुष भी सेवा को प्राप्त करते हैं

किंतु वे भी अपने इष्ट आराध्य के चरणों में सेवक की तरह खड़े होते हैं। तीर्थंकर प्रभु भी सिद्ध प्रभु के चरणों में नुति करते हुये दीक्षा ग्रहण करते हैं।

महानुभाव! सबको अपनी–अपनी योग्यतानुसार फल मिलता है। योग्यता दोनों में होना आवश्यक है। यदि पारसमणि शुद्ध है लोहा अशुद्ध है तो पारसमणि अयसखण्ड को स्वर्णखण्ड नहीं बना सकती। यदि लोहा शुद्ध है पारसमणि कपड़े में लिपटी रखी है तब भी वह पारसमणि लोहे को सोना नहीं बन सकती इसलिये उस लोहे का शुद्ध होना भी आवश्यक है और पारसमणि का भी निरावरण होना आवश्यक है।

महानुभाव! संसार में श्रोता और वक्ता दोनों आज भी हैं किंतु श्रोता किस प्रकार का हो और वक्ता किस प्रकार का हो? यदि वक्ता अपना मनोरंजन कर रहा है, time pass कर रहा है, आजीविका चला रहा है सोच रहा है मुझे क्या मतलब श्रोता चाहे अपना हित करे या अहित मुझे तो सरकार वेतन देती रहे मुझे कोई प्रयोजन नहीं ये चाहे कुछ सीखें या ना सीखें। ऐसा वक्ता विद्यार्थियों का हित नहीं कर सकता। और विद्यार्थी यदि पढ़ना न चाहें, अध्यापक पढ़ाना भी चाहे तब भी पढ़ा नहीं सकता दोनों का निष्ठावान् होना जरूरी है। दोनों के मन में भावना होनी चाहिये। पढ़ाने वाले के मन में पढ़ाने की भावना हो, पढ़ने वाले के मन में पढ़ने की भावना हो तब ही हित संभव हो सकता है।

धर्मस्य दुर्लभो ज्ञाता, सम्यक् वक्ता ततोऽपि च।
श्रोता ततोऽपि श्रद्धावान्, कर्ता कोऽपि ततः सुधीः।।

धर्म को जानने वाला दुर्लभ होता है उसे श्रेष्ठ तरीके से बताने वाला उससे भी दुर्लभ, श्रद्धा से सुनने वाला उससे दुर्लभ एवं धर्म का जीवन में आचरण करने वाला सुबुद्धिमान्, सदाचारी सबसे दुर्लभ है।

महानुभाव! इस कलिकाल में तत्त्व का उपदेश सुनने वाले बहुत कम हैं। एक समय था जब तत्त्व का उपदेश सुनने वाले तो बहुत थे ग्रहण करने वाले कम थे और सुनाने वाले उससे भी कम। फिर समय आया सुनाने वाले तो थे और सुनने वाले भी कुछ कम थे ग्रहण करने वाले और कम। फिर समय आया सुनने वाले भी कम और उसके धारण करने वाले और कम। तो यहाँ कह रहे हैं आज इस कलिकाल में भी हे जिनेन्द्र देव! आपका साम्राज्य तीन लोक में छाया रहता, इस पंचमकाल में भी आपका साम्राज्य पूरे भरत क्षेत्र में विद्यमान होता, आज भारत वर्ष में पूरा स्याद्वाद और अहिंसा धर्म विद्यमान होता, प्रत्येक प्राणी अपने कल्याण के मार्ग पर आरुढ़ दिखाई देता किन्तु कब? 'श्राद्धः श्रोता सुधी वक्ता'—यदि इस पंचमकाल में धर्म का श्रवण करने वाले श्रोता श्रद्धा से युक्त होकर के अपने उपदेशक की बात को सुनते। यदि इस पंचमकाल में सुनने वाला श्रोता निष्ठा के साथ भी चार शब्द सुने और ग्रहण कर आत्मकल्याण में उन शब्दों का उपयोग करे तो निःसंदेह वह श्रोता अपना हित कर सकता है। किन्तु श्रद्धावान् श्रोता बहुत कम हैं ऐसा नहीं है कि श्रोता हैं नहीं। कुछ श्रोता ऐसे होते हैं जो वक्ता की परीक्षा के लिये बैठे रहते हैं। वक्ता कुछ भी शब्द बोले लीक से हटकर के हम प्रश्न चिह्न खड़ा करें, आपने ऐसे कैसे बोला। वक्ता ने कोई अच्छी बात भी बोली तो आपने ऐसी बात क्यों बोली, इसका क्या आशय है, क्या इस समय ऐसी बात बोलनी चाहिये इस प्रकार के प्रश्न खड़े कर दिए। जब श्रोता तर्क से युक्त होता है, शंका से, आकांक्षा से युक्त होता है किसी मत आग्रह से बँधा हुआ होता है, धारणाओं के जाल में फँसा हुआ होता है ऐसे श्रोता का कल्याण करने में कोई भी वक्ता समर्थ नहीं होता। तो श्रोता की शर्त है वह श्रद्धावान हो। समीचीन श्रद्धा से प्रीतिपूर्वक सुनने वाला हो,

जो भगवान् के उपदेश को रुचिपूर्वक सुनता है आचार्य पद्मनंदी स्वामी ने उसे भव्य कहा।

तत्प्रतिप्रीतिचित्तेन, येन वार्तापि हि श्रुताः।
निश्चितं स भवेद् भव्यो, भावी निर्वाण भाजनम्।।

जो प्रीतिपूर्वक चित्त से जिनेन्द्रदेव की वार्ता सुनता है, धर्मकथा को सुनता है, मोक्ष–मार्गियों की वार्ता को सुनता है, उनका चरित्र पढ़ता–सुनता है और अपने आप में धारण करने का पुरुषार्थ करता है ऐसा वह जीव भव्य है नियम से निर्वाण को प्राप्त करेगा। श्रोता में श्रद्धा नहीं है तो समझना चाहिये कि श्रद्धा रहित श्रोता, श्रोता नहीं सोता है। वह केवल प्रवचन में आकर सोचता है अच्छा प्रवचन हॉल है, वातानुकूलित यहाँ का मौसम है, बस आँख बंद करके नींद लेने में मस्त हो जाता है। ऐसा श्रोता श्रोता नहीं सोने वाला है और सोने वाला व्यक्ति उपदेश के सार को ग्रहण नहीं कर पाता। तो श्रोता श्रद्धा युक्त होना चाहिये।

किन्तु यह स्थिति एक तरफ से नहीं दोनों तरफ से होनी चाहिये। अकेला श्रोता श्रद्धायुक्त न हो वक्ता भी सुधी हो। वक्ता श्रेष्ठ ज्ञान से युक्त हो, यदि वक्ता श्रेष्ठ ज्ञान से युक्त नहीं है, वह मनमाना बोल रहा है, सोचे मेरी जिह्वा, जब चाहे तब कतरनी सी चलाने लगा, कभी धर्म का खंडन कर रहा है, कभी अपने अहंकार का पोषण कर रहा है, कभी किसी की निंदा कर रहा है, शास्त्रों की बात न कहकर के मनोरंजन कर रहा है, अट्टाहास चल रहा है, लोगों ने ताली बजाई उसे इसी में आनंद आ गया इतने मात्र से वह वक्ता अपने श्रोताओं का कल्याण न कर सकेगा। वक्ता में निःसंदेह सम्यग्ज्ञान अनुस्यूत होना चाहिये, तब वह सम्यग्ज्ञान देने में समर्थ होगा। जिसका दीपक स्वयं बुझा हुआ है वह दूसरे का दीपक कैसे जला सकता है। जिसका दीपक जला है संभव है वह दूसरों के बुझे दीपक को जला

सकता है। तो श्रोता यदि श्रद्धावान् हो तो वक्ता भी विवेकवान् हो। जब श्रोता और वक्ता दोनों मिलते हैं श्रद्धावान् श्रोता को सुधी वक्ता विवेकवान् व क्रियावान् बना देता है। बिना विवेक की क्रिया अनर्थकारी होती है और बिना क्रिया का ज्ञान अहंकार का पोषण करने वाला होता है। श्रद्धारहित ज्ञान अहंकार का पोषण कराता है पतन का कारण है श्रद्धा रहित क्रिया शरीर को कष्ट देने वाली होती है। इसीलिये क्रिया के साथ श्रद्धा, विवेक आवश्यक है। ज्ञान के साथ श्रद्धा प्राण की तरह से है। विवेक के साथ सम्यक् श्रद्धा हो उस विवेक पर संयम का, क्रिया का अंकुश हो तब निःसंदेह वह ज्ञान, वह विवेक आत्महित में समर्थ होता है।

तो वक्ता सम्यक् श्रद्धा से युक्त हो, समीचीन ज्ञान से युक्त हो, उसके शब्दों पर संयम का अंकुश लगा हो। गाड़ी में ब्रेक नहीं है तो वह खतरनाक हो सकती है, ऐसे ही वक्ता के ब्रेक फेल हो जायें वह जो कुछ मन में आये वह बोलने लग जाये तो ऐसे वक्तव्य से वक्ता, श्रोता दोनों का ही पतन हो जाता है। इसलिये आचार्य महोदय कह रहे हैं—हे जिनेन्द्र देव! आपका मत इस कलिकाल में एकछत्र फैल जाता, यदि श्रद्धावान् श्रोता एक भी होता तो।

अमितगति और आदित्यगति नाम के दो मुनिराज थे, सिंह का जीव एक (महावीर स्वामी)। दो मुनिराज को एक श्रद्धावान् श्रोता मिल गया। इस श्रद्धावान् श्रोता ने बड़ी श्रद्धा से उपदेश सुना। उपदेश केवल कान से नहीं सुन रहा था, ध्यान से सुन रहा था, उसकी आँखों से पश्चाताप के आँसू बह रहे थे वह आँसू नहीं बह रहे थे मिथ्यात्व का मल धुल रहा था, दृष्टि निर्मल हो रही थी, वह पाप पंक से मुक्त हो रहा था, उसके पाप पंक प्रक्षालित हो रहे थे, उसका चित्त निर्मल, धवल होता चला जा रहा था। उस श्रोता ने मुनिराज की वाणी सुनी जो

मुनिराज जिनराज की दिव्यध्वनि सुनकर आये थे। आकाशमार्ग से चलने वाले ऋद्धिधारी मुनिराज ने उस एक जीव को संबोधन दिया। एक श्रोता निष्ठावान् बन गया और स्वयं वक्ता भी सुधी, श्रद्धावान्–विवेकवान् और क्रियावान् थे। उनकी श्रद्धा अचल मेरु की तरह थी, ज्ञान दर्पण की तरह निर्मल स्व–पर प्रकाशी दीपक की तरह था, उनका संयम निर्मल जल की तरह से सुखद सुख शांति देने वाला था। उन मुनिराज के मुख से चार शब्द भी निकल गये तो ये चार शब्द भी चार अनुयोग की तरह से कल्याण करने में समर्थ हैं।

हे भव्य जीव! तू हिंसा करने में उतारू है, तुझे तो अहिंसा का प्रवर्तन करना है, तू तो तीर्थंकर बनेगा। उसे लगा मैं कहाँ पाप पंक में डूबा हुआ हूँ। जैसे सोते से जाग गया हो और जागरूक हो गया। उसकी मिथ्यात्व की नींद टूट गयी और श्रद्धावान् हो गया, व्रती बन गया। झरनों–झील का गरम पानी पीने लगा, सूखे पत्ते खाने लगा। वह शेर मृत्यु को प्राप्त कर देव हुआ। वही शेर का जीव क्रमशः पर्यायों को प्राप्त करते हुये वर्तमान कालीन चौबीस तीर्थकरों में से अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी बने।

महानुभाव! उपदेश का यदि श्रद्धा से एक शब्द भी सुना है उस रोहिणेय चोर ने, मुनिराज जो मंदिर में उपदेश दे रहे थे उनका एक वाक्य सुन लिया था कि देवों की परछाई नहीं पड़ती, देवों के नेत्र टिमटिमाते नहीं हैं। जब वह चोरी करते हुये पकड़ा गया तो उसके लिये कृत्रिम स्वर्ग सा स्थान बनाया जिससे वह सही–सही बात कह दे कि हाँ मैं चोर हूँ–मैंने चोरी की है किन्तु उस समय उसे वह उपदेश याद आ गया। अभयकुमार ने जिस बुद्धिमानी से स्वर्ग से कमरे का निर्माण कराया था, वह चोर उसे देखकर समझ गया कि यहाँ उपस्थित देव–देवी यथार्थ देव–देवी नहीं हैं इनके तो पलक झपक रही हैं, इनकी परछाई पड़ रही है।

यह स्वर्ग नहीं मुझे पकड़ने के लिये जाल बनाया गया है। वह कहने लगा मैं चोर नहीं, मैंने जीवन में कभी चोरी की ही नहीं, मैं तो चोरी शब्द भी नहीं जानता वे देव–देवी पूछते हैं अरे देव! आपने पूर्व में क्या किया जो आप यहाँ उत्पन्न हुये हैं वह कहता है–मैं तो पूर्व में साधु था, बहुत तप–त्याग किये, बड़े ही निर्मल परिणाम के साथ रहा। बहुत–बहुत पूछने पर भी वह रोहिणेय नहीं बोला कि मैं चोर हूँ।

पुनः हारकर अभयकुमार ने कहा–मैं तुम्हें अभयदान देता हूँ तुम्हें क्षमा करता हूँ, सत्य बताओ बात क्या है? वह बोला राजकुमार! मैं ही रोहिणेय चोर हूँ। तो तुमने पहले क्यों नहीं बोला? अगर पहले बोलता तो आप मुझे प्राण दण्ड देते। अच्छा! ते ये बताओ कि तुमने यह कैसे जाना कि ये स्वर्ग नहीं है। वह बोला–मुनिराज के दो शब्द मेरे कान में पड़े थे कि देवों की परछाई नहीं पड़ती और उनकी पलक नहीं झपकती। उन शब्दों से आज मेरे प्राण बच गये। अभयकुमार ने कहा मैं तुम्हें क्षमाकर अभयदान देता हूँ। अब तुम चोरी को छोड़कर मेरे राज्य में रहकर राज्य की सेवा करो। रोहिणेय चोर ने कहा–आप मुझे क्षमा करें अब मैं आपके राज्य में रहना नहीं चाहता अब मैं आपके राज्य को भी प्राप्त करना नहीं चाहता। अब तो मैं उस परलोक का राज्य प्राप्त करना चाहता हूँ। जिनके शिष्य के मात्र दो शब्दों के माध्यम से मेरे प्राण बच गये तो यदि उन भगवान् महावीर स्वामी की पूरी वाणी को सुनूँगा तो संसार रूपी भयानक अटवी से ही बच जाऊँगा। अब मैं उनका उपदेश सुनूँगा और अपना कल्याण करुँगा। रोहिणेय चोर ने उन वचनों पर श्रद्धा की, अपना कल्याण किया दीक्षा लेकर के।

महानुभाव! आज भी यदि श्रोता श्रद्धापूर्वक चार शब्द भी सुनता है तब अपनी संक्लेशता को दूर कर सकता है, अपनी

कषाय का शमन कर सकता है। वह यथार्थ बोध को प्राप्त हो सकता है। वक्ता भी निर्लोभी हो, जिस वक्ता की आजीविका गृहस्थों से चल रही हो, धन से चल रही हो तो ऐसा वक्ता तो गृहस्थों के अनुसार ही वचन सुनाता है। किन्तु जो निर्लोभी है जिसके मन में कोई लालच नहीं, मान की भावना नहीं, ख्याति, पूजा लाभ की चाहना नहीं ऐसा शुद्ध वक्ता ही श्रावक का, श्रोता का कल्याण करने में समर्थ होता है।

आप भी उत्तम श्रोता बनें तत्पश्चात् तीर्थंकर सम उत्तम वक्ता बन अपनी आत्मा का कल्याण कर सकें ऐसी आपके प्रति मंगलभावना भाते हैं।

।।श्री शांतिनाथ भगवान् की जय।।

।।जैनं जयतु शासनं–विश्वकल्याणकारकं।।

मूर्खों के चिह्न

महानुभाव! संसार में हर किस्म के व्यक्ति प्रत्येक काल में थे, आज भी हैं और आगे भी रहेंगे। जो पुण्यात्मा जीव है उसे पुण्य का फल भोगने के लिये मिलता है और वह पुण्य का कार्य करने में समर्थ होता है, जो व्यक्ति हीन पुण्यात्मा है वह व्यक्ति पुण्य के कार्य नहीं कर पाता व पुण्य के फल को भी नहीं भोग पाता। जो पापिष्ठ जीव होते हैं वे पाप का फल भोगते हैं उनके माध्यम से पाप के कार्य ही होते हैं। कई बार जीवन में अनुभव किया है चार व्यक्ति मिलकर धर्म की चर्चा कर रहे हैं और अचानक उन्होंने कोई बात कही कि इस काम को ऐसे करना है इस कार्य में पुण्य तो नहीं पाप ही मिलेगा, चारों चर्चा कर रहे थे कि आप कर लो–आप कर लो। किंतु चर्चा चल ही रही थी तभी पाँचवा व्यक्ति आया वह कहने लगा मैं करूँगा इस काम को और उस पाप का श्रेय उसने ले लिया। कई बार ऐसा होता है पुण्य कार्य करने की बात चार व्यक्ति कर रहे थे वे सोचते ही रह गये और पाँचवा व्यक्ति आया उसने पुण्य का काम कर लिया।

जो व्यक्ति जिस प्रकार की नियति से सहित होता है उस प्रकार की पुण्य–पाप प्रकृति को लेकर आता है उसके माध्यम से वैसे कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। अन्य व्यक्ति उस प्रकार के कार्य नहीं कर पाता। भला आदमी स्वप्न में भी बुरे काम नहीं कर पाता और खोटा आदमी स्वप्न में भी भला काम नहीं कर पाता। भले आदमी से अच्छे काम होते चले जाते हैं और बुरे आदमी से बुरे कार्य। कई बार देखा जाता है नगर में, मोहल्ले में विधान आदि कोई मंगलकार्य हो रहा हो, वह पहले से ही सोच रहा है कि मैं ऐसा पात्र बनूँगा किंतु जैसे ही उस कार्य के सम्पन्न होने का समय आया तो उसके सूतक पातक हो गये, अथवा घर में कोई

प्रतिकूलता हो गयी अथवा स्वयं का ही स्वास्थ्य प्रतिकूल हो गया अथवा कहीं और ऐसी विपत्ति आ गयी कि वह व्यक्ति पुण्य का लाभ नहीं ले सका। दूसरी ओर ऐसा भी होता है वह सोचता है मैं क्या कर पाऊँगा, मेरे पास तो अनुकूलता है नहीं, घर में बीमारी पड़ी है, इतना धन भी नहीं है कि मैं पुण्य का कार्य कर सकूँ किंतु संयोगवशात् जब पुण्य के कार्य का समय आया तब उसके घर में अनुकूलता भी बन गयी और कहीं से ऐसा द्रव्य भी आ गया कि उसने पुण्य के कार्य में भाग ले लिया।

अजमेर में एक कार्यक्रम होना था, उस कार्यक्रम में नगर श्रेष्ठी से संकेत किया कि आप उसमें पात्र बन जाओ। वह नीचे गर्दन करके, मोबाइल कान पर लगाकर के बैठ गया। मोबाइल पर किसी का फोन आ नहीं रहा था किंतु दिखाने के लिये कि वह व्यस्त है फोन पर लगा रहा। दूसरा व्यक्ति खड़ा हुआ जो बेचारा ठेला लगाकर के फल बेचता था उसने कहा मैं पात्र बनूंगा। तब मुझे लगा वास्तव में पुण्य और पाप इसे कहते हैं एक ठेले पर फल रखकर बेचने वाला व्यक्ति किसी पुण्य के कार्य में पात्र बन सकता है दूसरा व्यक्ति जो स्वयं को नगर सेठ भी कहे किंतु उसे वह पुण्य का अवसर प्राप्त नहीं हो पाया। आपने भी अपने जीवन में ऐसे उदाहरण देखे होंगे कि पुण्य का फल व्यक्ति को कैसे प्राप्त हो जाता है और हीन पुण्यात्मा उससे वंचित रह जाता है अथवा पूर्व पाप के उदय से भी वह पुण्य का फल नहीं ले पाता।

1993 में पूज्य आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज सम्मेदशिखर जी में थे तीस–चौबीसी की रचना का काल चल रहा था लगभग सब मूर्तियाँ पूरी हो गयी थी। लुधियाना के एक महानुभाव थे, उन्होंने भी अपनी एक मूर्ति लिखा दी। वे अपने निवास स्थान पर जब लौटकर आये तो व्यापार में मस्त हो गये, व्यापार में बहुत अच्छा लाभ हुआ वे मूर्ति की बात तो भूल ही

गये। इसके उपरांत जब मूर्ति प्रतिष्ठा होने का समय आया तो कमेटी वालों ने उन्हें फोन किया। उन्होंने फोन नहीं उठाया। तभी उसी समय पश्चिमी बंगाल के किसी छोटे से गाँव का व्यक्ति वहाँ पहुँचा उसने कमेटी वालों से कहा–मूर्ति की बात है तो मेरा नाम लिख दो।

उसने आचार्य श्री से आशीर्वाद लिया और जो मूर्ति की न्यौछावर राशि थी उसमें नाम लिखा दिया। उसने कहा–कुछ पैसे अभी ले लो, कुछ पैसे मैं घर जाकर दे दूँगा।

वह घर जा रहा था कि तभी मार्ग में फोन आ गया कि एक गाड़ी चना आया है अगर आपको चाहिये तो? उसने कहा ठीक है मैं ले लेता हूँ उसने फोन से ही सौदा तय कर दिया। घर पहुँचने से पहले ही दूसरा फोन आया एक गाड़ी चने की आवश्यकता है आपके पास हो तो दे दो, उसने कहा ठीक है दे देता हूँ। उसने वह गाड़ी अपने पास बुलाई भी नही की वहीं, ज्यों की त्यों भिजवा दी। जो पैसा उसे मूर्ति की न्यौछावर राशि में देना था उससे ज्यादा Profit (लाभ) बीच में प्राप्त हो गया। वह घर गया भी नहीं, लौटकर सम्मेदशिखर आया और मूर्ति की न्यौछावर राशि दे देता है। वह व्यक्ति बहुत बड़ा सम्पन्न नहीं था सामान्य था। और जो व्यक्ति लुधियाना का था उसने बड़ा व्यापार भी किया किंतु अचानक ही फैक्ट्री में आग लगी और उनका पूरा माल जल गया। बहुत बड़ा घाटा हुआ। रोता हुआ महाराज श्री के पास पहुँचा और क्षमा माँगता है महाराज श्री मैं मूर्ति बोलकर गया था। आचार्य श्री ने कहा–देखो भगवान् के लिये जो बोला है उसे तुरंत पूरा करना चाहिये तूने फोन भी नहीं उठाया, कमेटी वालों ने बुलाया तो तू आया भी नहीं। उसने कहा उस समय मेरा व्यापार बहुत तेजी से चल रहा था बहुत लाभ हो रहा था। आचार्य श्री ने कहा–तूने पुण्य का संकल्प लिया तो व्यापार में

लाभ हो रहा था, तू उसे भूल गया, तेरे मन में भावना ही नहीं आई कि मुझे मूर्ति की प्रतिष्ठा करानी है तेरी वजह से काम रुका हुआ है। देख! तेरा कोई पाप प्रकृति का उदय आ गया इसलिये तुझे ऐसा घाटा हुआ है।

महानुभाव! यह तो एक ही प्रकरण है। जीवन में ऐसे सैकड़ों प्रकरण हैं जिसमें एक सामान्य व्यक्ति को पुण्य कार्य करने का अवसर मिलता है, कई जगह पंचकल्याणक–प्रतिष्ठायें होती हैं जहाँ लोग पहले से ही बड़े–छोटे अपनी क्षमतानुसार पात्र बनने की सोचते हैं किंतु वे सोचते ही रह जाते हैं पुण्यात्मा कोई और ही होता है जो उन अवसरों का लाभ उठाकर ले जाता है।

संसार में हर प्रकार के व्यक्ति हैं। बुद्धिमान् भी हैं तो मूर्ख भी, सुंदर भी हैं तो कुरूप भी, पुण्यात्मा हैं तो पापी जीव भी हैं, उपकारी हैं तो अपकारी भी हैं हर प्रकार के व्यक्ति इस संसार में निवास करते हैं। ज्ञानी पुरुष के मस्तक पर कोई तिलक नहीं होता है, ज्ञानी पुरुष के हाथ में कोई कमल के फूल नहीं खिलते और मूर्खों के सिर पर सींग नहीं होते। जिससे मूर्ख और ज्ञानी की पहचान की जा सके। व्यक्ति के व्यवहार से ही पता चलता है कौन व्यक्ति ज्ञानी है कौन अज्ञानी, कौन शिष्ट है कौन दुष्ट है, कौन व्यक्ति सदाचारी है कौन व्यक्ति कदाचारी, कौन पुण्यात्मा है कौन पापी, कौन व्यक्ति पर भव में सुखद सुगति को प्राप्त कर सकता है कौन दुर्गति को प्राप्त कर सकता है, यह उसकी बाह्य क्रियाओं से मालूम चलता है। नीतिकारों ने एक श्लोक कहा है कि मूर्ख कौन होता है।

मूर्खस्य पंच चिह्नानि, गर्वो दुर्वचनं तथा।
क्रोधस्य हठवादस्य परवाक्येष्वनादरः।।

मूर्ख व्यक्ति के पांच चिह्न हैं। उनके अलग से सींग नहीं होते किंतु ये पाँच बातें सींग से भयंकर हैं। सींग मारने वाले

बैल–भैंसा सींग मारें तो संभव है व्यक्ति आगे पीछे होकर बच ले किंतु मूर्ख व्यक्ति जब चोट करता है तो चाहे लोभ के कारण या लोकव्यवहार के कारण या अन्य किसी भय आदि से। अच्छे–अच्छे बुद्धिमान भी उसमें फँस जाते हैं। तो मूर्खों से दूर रहे क्योंकि मूर्खों की संगति में रहने वाला व्यक्ति भी मूर्ख ही माना जाता है। अग्नि के सम्पर्क में पड़ा हुआ लकड़ी का टुकड़ा भी अग्नि ही हो जाता है और गंदगी में पड़ी हुयी कोई अच्छी वस्तु भी गंदी हो जाती है। सड़े फलों के बीच रखा अच्छा फल भी सड़–गल जाता है। तो यहाँ पर मूर्खों के चिह्न बताते हुये कह रहे हैं–

'गर्वो दुर्वचनं तथा'–मूर्ख वह है जो अपनी उपलब्धि पर अहंकार करता है। मूर्खों में तीन प्रकार का गर्व होता है रसगारव, ऋद्धिगारव और सातगारव। सातगारव का अर्थ होता है जिस व्यक्ति को अच्छा खाने को मिले उसमें अहंकार करता है मुझे तो राज–भोग की संप्राप्ति हुयी है मैं बहुत पुण्यात्मा हूँ किसी के पास ऐसा भोजन कहाँ? जो व्यक्ति पूर्व पुण्य से अच्छा भोजन मिला है उस पर घमण्ड करता है वह मूर्ख है। अथवा सातगारव किसी के जीवन में साता वेदनीय का उदय आ रहा है तो वह कहता है वाह! मेरे घर में तो सभी कुछ अच्छा है न कोई अस्वस्थ होता है, न कभी कोई दुर्घटना घटती है, न कोई प्रतिकूलता आती है मैं कितना पुण्यात्मा हूँ। जो साता के उदय में इतराता है वह भी मूर्ख है। ऋद्धि गारव यदि किसी के पास कोई सत्कला है, ज्ञान है और भी कोई गुण है उसका अहंकार करता है तो वह भी मूर्ख है। तो गर्व करना मूर्खों का पहला चिह्न है।

दूसरा चिह्न है 'दुर्वचन'। जिसके कोष में मीठे वचन होने के बावजूद भी वह अपने कोष में से दुर्वचन ही निकालता है। अपने श्री मुख से चाहे तो अमृतोपमा वचन कह सकता है, मिष्ट–शीतल वचन बोल सकता है जिससे स्वयं को भी शांति

मिले दूसरों को भी शांति मिले, हित–मित–प्रियवचन बोल सकता है किंतु वह सदैव कड़वे वचन ही बोलता है। किस तरह? जैसे गली में कोई फल बेचने वाल व्यक्ति आया उसकी टोकरी में अच्छे–अच्छे फल भी हैं, मीठे–कड़वे–कच्चे फल भी हैं। वह लोभ में आकर के कड़वे, खट्टे, खराब फल ग्रहण करता है मीठे फल नहीं लेता तो जैसे वह मूर्ख है उसी प्रकार जो व्यक्ति मीठे वचन बोलने की सामर्थ्य रखता हुआ भी दुर्वचनों का प्रयोग करता है तो वह भी मूर्ख ही कहलाता है। क्योंकि दुर्वचनों को बोलने से जिह्वा मोटी नहीं हो जाती, मीठे वचन बोलने से जीभ घिस नहीं जाती। दुर्वचन बोलने से कहीं शरीर का सत्व कम नहीं होता स्वास्थ्य खराब नहीं होता है, सद्वचनों से कोई रोगी नहीं होता और दुर्वचनों से कोई मोटा नहीं होता, ह्रष्ट–पुष्टता–चमक नहीं मिलती किंतु फिर भी जब व्यक्ति यह जानता है कि खोटे वचनों को बोलने से मुझे कोई लाभ नहीं हो रहा है, न शारीरिक, न सामाजिक, न आध्यात्मिक, न वाचनिक, न शरीर को कोई ऊर्जा शक्ति प्राप्त होती इसके बावजूद भी यदि व्यक्ति दुर्वचन बोले तो उससे बड़ा मूर्ख और कौन हो सकता है। मीठे वचनों को बोलने में पैसा नहीं लगाना पड़ता, न जीभ घिसती, न शक्ति ज्यादा लगानी पड़ती, न पुण्य खर्च हो रहा बल्कि पुण्य का आश्रव ही हो रहा है मीठे वचन बोलने से पाप ही नष्ट होते हैं, मीठे वचन बोलने से स्वयं को ही शांति मिलती है इसलिये शिष्ट–मिष्ट–प्रिय वचन बोलना चाहिये। किंतु जो प्रिय वचन नहीं बोलता, अमृत को छोड़ जहर पीता है तो वह मूर्ख होता है ऐसे ही दुर्वचन बोलने वाला व्यक्ति भी मूर्ख ही होता है।

आगे तीसरा लक्षण बता रहे हैं 'क्रोधस्य'। मूर्ख व्यक्ति ऐसा सोचता है कि क्रोध करके मेरा दबदबा बढ़ जायेगा। क्रोध करो तो सब व्यक्ति मेरे आगे नतमस्तक हो जायेंगे। यह उसकी उल्टी

सोच है, भ्रम है। क्रोध करने से आत्मिक शक्ति नष्ट होती है, शारीरिक शक्ति नष्ट होती है, क्रोध करने से मित्र टूटते चले जाते हैं। क्रोध करने से स्वयं का विवेक गुण नष्ट होता है और सत्यरुप कोमल, विमल परिणाम, क्षमाशीलादि परिणामों की होली जल जाती है। इसलिये क्रोध बुद्धिमान तो करता ही नहीं।

बुद्धिमान तो वह है जो क्रोध को पी जाता है, गम को खा जाता है। मूर्ख वह है जो क्रोध की अग्नि को दूसरों के ऊपर उगल देता है जो क्रोधाग्नि दूसरों पर उगलता है उससे दूसरा जले या न जले किंतु खुद जो ज्वाला अपने श्री मुख में पैदा कर रहा है उससे उसका मुख पहले जलेगा। यदि लोहे का गोला अग्नि में सन्तप्त करके दूसरे पर फेकेंगे तो सामने वाला जले न जले गारण्टी नहीं है किन्तु जो हाथ में उठाकर फेंकने को तैयार होता है वह तो जल ही जाता है। ऐसे ही क्रोध सबसे पहले अपना अहित करता है। माचिस की तिल्ली मोमबत्ती को जलाने के लिये उत्सुक होती है, वह मोमबत्ती को जला पाये या न जला पाये तिल्ली को पहले स्वयं जलना पड़ता है। ऐसे ही क्रोधी व्यक्ति को पहले अपना अहित अनिष्ट करना पड़ता है तब ही वह दूसरों का अहित अनिष्ट कर पाये न कर पाये जरूरी नहीं।

यदि सामने वाले का पाप कर्म का उदय है तभी आप उसके अहित में निमित्त बन सकते हैं सामने वाले के पाप का उदय नहीं है तो उसका अहित नहीं कर सकते। किन्तु दोनों स्थिति में आपका अहित तो होगा ही होगा। सामने वाले का अहित हो गया तब भी आपका अहित हो गया, सामने वाले का अहित नहीं हुआ तब भी आपका अहित होगा क्योंकि अहित करने वाले आप हैं। स्वप्न में भी यदि आपने किसी पर क्रोध किया है तो भी आपको ही पाप कर्म का बंध होगा सामने वाला तो स्वप्न में है ही नहीं यदि स्वप्न में दिखाई दे रहा है तो उसका

तो किंचित् भी भाव गलत नहीं हुआ। स्वप्न में भी क्रोध किया है तो अपनी ही हानि है। रक्त में विद्यमान W.B.C. और R.B.C. में से क्रोध द्वारा R.B.C. की वृद्धि होती है W.B.C. (श्वेत रुधिर कणिकाएँ) नष्ट होती हैं। इससे रोग निरोधक क्षमता घट जाती है। व्यक्ति तामसिक वृत्ति का हो जाता है। जिसके शरीर में तामसिक वृत्ति ज्यादा होती है उसके शरीर में R.B.C. (लाल रुधिर कणिकायें) ज्यादा हो जाती हैं उसकी वृत्ति राक्षसी, निशाचरी वृत्ति हो जाती है। ऐसा व्यक्ति मरकर के संभव है परभव में नरकादि को प्राप्त करता है और जिसके शरीर में W.B.C.(श्वेत रुधिर कणिकायें) ज्यादा होती हैं वह क्षमाशील, सात्विक वृत्ति वाला, विनम्र करुणावान संतोषी, दयावान् सदाचारी होता है। इस भव में सुख शांति का अनुभव करता है। परभव में क्रमशः संभव है तीर्थंकरादि पद को प्राप्त करने में समर्थ होता है। इससे उनके पूरे शरीर का रक्त ही श्वेत दूध जैसा धवल होता है, प्रेम और वात्सल्य की विशेषता से युक्त होता है। क्रोधी के शरीर में प्रेम और वात्सल्य वैसे ही नहीं टिकते जैसे छलनी में पानी नहीं टिकता। तो क्रोधी व्यक्ति सदैव स्व–पर का घातक होता है वह दूसरों का घात कर पाये न कर पाये किंतु स्वयं का घात तो नियम से होता ही होता है।

मूर्ख का अगला लक्षण है 'हठवादस्य' मूर्ख वह है जो दुराग्रही होता है एक बात पर अड़ गया तो अड़ गया। बालक शरारत कर रहे हैं माँ यदि समझाये तब भी वे शरारत–ऊधम कर रहे हैं तो उन्हें मूर्ख मानना चाहिये। यदि मान जायें तो वे अच्छे बच्चे कहलाते हैं। तो हठवादी चाहे घर–परिवार में हो या अन्य संस्था–संगठन में हो जो कहे मैं तो ऐसा ही करुँगा तो यह लक्षण मूर्ख का ही समझना चाहिये। अथवा कोई नारी अपने पति से जिद करे मुझे अमुक–अमुक वस्तु चाहिये ही चाहिये, पति

समझाये भी अभी नहीं, अनुकूलता होने पर ला दूँगा वह तब भी न माने तो ऐसी नारी को भी मूर्ख ही समझना चाहिये, ऐसी नारी सज्जन सुशीला नहीं कहलाती। यद्यपि नीतिकार तो 'मूर्खता' नारी का आभूषण ही मानते हैं। 98-99% नारियाँ मोढव्यता से (मूर्खता से) युक्त होती हैं। बहुत विरले ही होगीं 100 में से एक–दो सुशीला नारी जिनकी स्तुति आचार्यों ने भी की है। किंतु ऐसा नहीं है कि पुरुषों में हठवादी नहीं होते, पुरुषों में भी हठवादी होते हैं एक बार जिद करके बैठ जायें मैं क्षमा करूँगा ही नहीं, झुकूँगा ही नहीं, मैं मर तो सकता हूँ पर ऐसा नहीं कर सकता। जो पुरुष ऐसा हठवादी होता है वह मूर्ख ही होता है। क्योंकि सज्जन व्यक्ति ऐसा हठवादी नहीं होता।

सज्जन पे सौ–सौ चलें, दुर्जन चले न एक।
ज्यों जमीन पाषाण की ठोंके ठुके न मेक।।

सज्जन व्यक्ति सोने की तरह से होता है सोने को 100 बार तोड़ो, 100 बार जोड़ो सोने का कुछ भी नहीं बिगड़ता और दुर्जन व्यक्ति मिट्टी के कुंभ की तरह होता है एक बार टूट गया तो पुनः जुड़ने का नहीं। तो जो मूर्ख होता है वह दुर्जन होता है और दुर्वचन बोलने वाला होता है, हठी होता है, पत्थर जैसे स्वभाव वाला होता है झुकता नहीं। वह बैत की लकड़ी की तरह नहीं कि जैसा चाहे वैसा घुमा दो वह तो पत्थर की शिला सी है टूट जायेगी पर झुकेगी नहीं। जो ऐसे दुःस्वभाव का होता है वह मूर्ख ही होता है।

आगे कह रहे हैं–**'परवाक्येषु अनादरः''** जो दूसरों की बात काटता है, उनका अनादर करता है वह मूर्ख है। राजा भोज के समय की बात है एक बार उसके राजमहल में दो सैनिक आपस में चर्चा कर रहे थे। तभी वहाँ से राजा भोज का निकलना हुआ राजा ने उनकी थोड़ी बात सुनकर ही उनको बीच में टोककर

कुछ समझा दिया, यह प्रसंग कालिदास ने भी देख लिया। अगले दिन कालिदास जब दरबार में आए तो उन्होंने राजा भोज को 'देवानां प्रिय' इस वाक्य के द्वारा संबोधित कर प्रणाम किया। राजा भोज को यह संबोधिन वाक्य बहुत पसंद आया वे बहुत प्रसन्न हुए यह सोचकर कि मैं देवों के द्वारा भी प्रिय हूँ। किंतु वे इस वाक्य का सही अर्थ नहीं जान पाए। 'देवानां प्रिय' का अर्थ होता है 'मूर्ख'।

कुछ दिनों पश्चात् कालिदास दरबार में आए तो राजा भोज ने भी अत्यत प्रसन्नता में कालिदास को कह दिया आओ देवानां प्रिय जैसे ही कालिदास ने यह सुना उसका चेहरा उतर गया। उसने राजा भोज से एक श्लोक पढ़ते हुए अपनी बात कही उन्होंने कहा–

खादन्न गच्छामि, हसन्न भाषे, गतं न शोचामि, कृतं न मन्ये।
द्वाभ्यां तृतीयो न भवामि राजन्, किं कारणं भोज भवामि मूर्खः।।

हे राजन मैं खाता हुआ चलता नहीं हूँ, बोलते हुए हसँता नहीं हूँ, बीते हुए का शोक नहीं करता, उपकार करके उसे मानता नहीं हूँ, और यदि दो लोग आपस में चर्चा कर रहे हों तो बीच में बोलता नहीं हूँ, फिर किस कारण हे राजन्! आपने मुझे मूर्ख कहा?

राजा भोज तुरंत समझ गए कि 'देवानां प्रिय' का अर्थ मूर्ख होता है। और उन्हें अपने ही साथ हुई उस दिन की घटना भी याद आ गई जिस कारण कालिदास ने उन्हें 'देवानां प्रिय' कहा था। वे समझ गए यदि दो व्यक्ति बात कर रहे हों तो बिना पूछे उनके बीच में नहीं बोलना चाहिए। महानुभाव! जो दूसरों की अच्छी बात की पुष्टि करता है, वह प्रशंसनीय है, विश्वसनीय, बुद्धिमान है। किसी का ऐसा स्वभाव ही हो कि बात अच्छी हो या बुरी मुझे तो विरोध ही करना है, बात काटनी है तो ये भी मूर्खों

के लक्षण होते हैं। हम दूसरों की प्रशंसा करना सीखें, कोई न कोई अच्छाई उसमें अवश्य होगी। ऐसा नहीं है कि संसार में कुछ भी हो और उसमें अच्छाई न हो बुराई ही बुराई हो। ऐसा भी नहीं कि बुराई भी न हो अपनी दृष्टि अच्छाई पर रखकर के प्रशंसा करें जिससे हमारी विशुद्धि बढ़ती है और निंदा करने से, दूसरों की बात का अनादर करने से हमारे जीवन में पाप का आश्रव होता है, चित्त संक्लेशित होता है इसलिये हम ये चाहते हैं कि ये 5 दोष आपके जीवन में न हों। गर्व–दुर्वचन–क्रोध–हठवादिता और दूसरों की बातों का अनादर ये मूर्खों के चिह्न हैं पाप आश्रव के कारण हैं। आप इनसे बचें हम आपके प्रति मंगल भावना भाते हैं। इन्हीं मंगलभावनाओं के साथ....।।

।।श्री शांतिनाथ भगवान् की जय।।

।।जैनं जयतु शासनं–विश्वकल्याणकारकं।।

महात्मा के लक्षण

महानुभाव! समुद्र रत्नों से खाली नहीं है, जंगल चंदन के वृक्षों से रिक्त नहीं है, सीप में भी मोती पाये जाते हैं और पुष्पों में भी गंध की कमी कभी नहीं हुयी। चन्द्रमा से चाँदनी आज भी शीतल ही निकलती है, सूर्य भी प्रकाश को फैलाकर वसुधा से अंधकार को नष्ट करने में समर्थ है। इन सब बातों से सिद्ध है कि संसार में सज्जन व्यक्तियों की भी कमी नहीं, सज्जनों का अभाव नहीं है। मूर्खों के बारे में जाना–सुना अब जरा सज्जनों के बारे में भी देखते हैं कि सज्जन पुरुषों का क्या लक्षण है। महात्मा के सिर अर्थात् भाल पर तिलक नहीं होता या हाथ में कमल के पुष्प नहीं खिले होते किन्तु उसकी प्रवृत्ति से, उसकी क्रिया–चर्या से कोई भी सामान्य व्यक्ति अंदाजा लगा सकता है कि कौन सज्जन है कौन दुर्जन है। उसे अपने आप कहने की आवश्यकता नहीं।

पुष्प अपनी गंध गाता नहीं, स्वतः ही जो जानने वाला व्यक्ति है वह जान लेता है। पुष्प ढोल नहीं बजाते, कोई कार्ड और पत्र नहीं भेजते कि मेरे अंदर सुगंध आ रही है, पराग आ रहा है तितली और भवंरे स्वयं पहुँच जाते हैं। ऐसे ही सज्जन पुरुष के पास सज्जन पुरुष के आकांक्षी पहुँच जाते हैं, दीप जलते ही प्रकाश के आकांक्षी पतंगे उसके पास पहुँच जाते हैं, चंदन के पास सर्प पहुंच जाते हैं, मधुर रस जहाँ आ रहा हो, चींटी और अन्य मिष्ट रस के आकांक्षी जीव वहाँ पहुँच जाते हैं। गुणग्राहकता संसार में अनादिकाल से है, आज भी है और आगे भी रहेगी।

दोष ग्रहण करने वाले व्यक्तियों का अभाव भी किसी काल में नहीं रहा। सज्जन पुरुष की प्रवृत्ति निःसंदेह कुछ अलग ही होती है क्रिया भले ही एक हो किंतु क्रिया करने का तरीका अलग होता है। दुर्जन भी बोलता है, सज्जन भी बोलता है, सज्जन भी

चलता है दुर्जन भी चलता है सज्जन भी खाता है दुर्जन भी खाता है, दुर्जन भी निद्रा–भय–परिग्रह का संचयादि सब कार्य करता है सज्जन भी करता है फिर भी दोनों की क्रियाओं में बहुत अंतर है। देखने में भले ही घी और डालड़ा घी एक जैसा लगे, सोना–पीतल एक जैसे लगें, सीप–चाँदी एक जैसी लगे, प्लास्टिक का मोती और सच्चा मोती एक जैसा लगे, असली पुष्प, फल और प्लास्टिक के फूल, फल एक जैसे लगें, देखने में कस्तूरी और कोई काली वस्तु एक जैसी दिखाई दे किंतु फिर भी दोनों में महान अंतर है, गुणवत्ता दोनों को पृथक करने वाली होती है।

चंदन, केशर, हल्दी ये तीन वस्तुयें पीली होती हैं किन्तु तीनों के पीलेपन में भी अंतर है और तीनों की गुणवत्ता में भी अंतर है। मिशरी, नमक और काँच के टुकड़े दूर से एक जैसे दिखाई देते हैं किंतु तीनों की गुणवत्ता में, स्वभाव में बहुत अंतर है ऐसे ही संसार में दुष्ट, सामान्य और सज्जन व्यक्ति तीनों में महान् अंतर है। यहाँ पर सज्जन पुरुष की विशेषता बताते हुये आचार्यों ने लिखा है–

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा,
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रतौ,
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्।।

जो महान् आत्मायें हैं उनकी ये विशेषतायें हैं। वे विशेषतायें प्रकृति सिद्ध हैं अर्थात् स्वभाव से हैं। जैसे जल प्रकृति से नीचे की ओर बहता हुआ जाता है, जैसे अग्नि की लपटें सहज ही प्रकृति से ऊपर की ओर जाती हैं, जैसे हवा का बहना सहज ही तिरछा होता है, जैसे जीव में सहज ही ज्ञान–दर्शन चेतना पायी जाती है, जैसे पुद्गल का सहज ही स्वभाव स्पर्श–रस–गंध–वर्ण वाला है इसी प्रकार से महात्माओं की प्रकृति सिद्ध स्वभाव है। ये

बनावटी नहीं है स्वतः ही आती है। मोती में ज्यों सहज चमक है सो है, कोयले में कालापन सहजता में है तो है, नींबू आदि खट्टे पदार्थों में खट्टापन है तो सहजता में है, शक्कर में मिठास सहज है तो है इसका मतलब ये है कि उसमें कुछ किया नहीं अपने आप है। आकाश का सहज स्वभाव है निर्मलता उसे कोई गंदा नहीं कर सकता, सूर्य का सहज स्वभाव है प्रकाश देना वह कभी अधंकार नहीं उगलता, ऐसे ही महान् पुरुषों के सहज स्वभाव हैं–'विपदि धैर्य'।

आप भी महान् पुरुष महान आत्मा हो सकते हैं किसी ने आपको रोककर नहीं रखा है। उपरोक्त छः लक्षण आपकी आत्मा में प्रकट हो रहे हैं तो आप भी अपनी आत्मा को महान् आत्मा समझें और नहीं तो इन्हें प्रगट करने का सम्यक् पुरुषार्थ करें। पहला लक्षण है विपत्ति में धैर्य। आप कहेंगे ये तो बड़ा मुश्किल है। विपत्ति आ जाये और आकुलता–व्याकुलता न हो तो बड़ा मुश्किल है, लोहे के चने चबाना सरल है, ऐवरेस्ट की चोटी चढ़ना सरल है, अग्नि के दरिया में तैरना सरल है और समुद्र के पानी को मुख में भर लेना माना सरल है, गधे के सींग निकल आयें, आकाश को मुट्ठी में माना भर लें, ये बात तो हमें सरल दिखाई देती हैं किंतु विपत्ति में धैर्य को धारण करना सरल नहीं लगता। आपत्ति–विपत्ति आये मन संक्लेशित न हो, मन में धैर्य बना रहे यह बहुत कठिन है–बहुत कठिन है। यदि कठिन नहीं होता तो संसार का प्रत्येक प्राणी महापुरुष हो जाता किंतु ये बात ध्यान रखना ये बात असंभव नहीं है कठिन जरूर है। क्योंकि महापुरुष तो विरले ही होते हैं हजारों–लाखों–करोड़ों में कोई एक महापुरुष निकलकर आता है जिसकी प्रवृत्ति ऐसी होती है।

श्री रामचंद्र जी की तरह से, जीवन में विपत्ति चाहे कितनी भी आयें किंतु धैर्य नहीं छोड़ा, राजा हरिशचन्द्र की तरह से

विपत्ति आयी किंतु धैर्य नहीं छोड़ा या और भी महापुरुष हैं जिन्होंने जीवन में धैर्य नहीं छोड़ा, विपत्ति के समय भी अन्याय का पथ नहीं अपनाया, विपत्ति के समय भी उन्होंने छल–कपट मायाचारी नहीं की, धैर्यवान् रहे,यह सोचकर कि कोई बात नहीं आज पाप कर्म के उदय से मुझे विपत्ति मिली है यह भी नष्ट हो जायेगी शाश्वत नहीं है, अतिथि है। कौन अतिथि किसके घर में स्थायी रहता है? चाहे पुण्य का उदय हो या पाप का दोनों ही अतिथि हैं। दोनों चले जायेंगे (ऐसे ही ये विपत्ति आयी है ये भी चली जायेगी) इस समय मुझे समता भाव धारण करना है। यह महान पुरुष का सहज लक्षण है कि विपत्ति के समय भी वे व्याकुल नही होते, वे धीर रहते हैं, गंभीर रहते हैं।

दूसरा लक्षण कह रहे हैं – 'अभ्युदयेन क्षमा' जब व्यक्ति के पास कोई उपलब्धि होती है तो अंतरंग में परिणामों में कुछ चंचलता आती है कुछ जोश आता है, कुछ उत्तेजना भी आती है। दूसरों शब्दों में कहो कि मान कषाय आ जाती है। एक गहरी मान कषाय होती है एक हल्के रंग की मान कषाय जिसे आपके शब्दों में कहें स्वाभिमान और वह थोड़ी अच्छी सी लगती है। जब भी कोई उपलब्धि होती है तो व्यक्ति की सहनशक्ति कम हो जाती है उसे गुस्सा आ जाता है। सभी के बीच में एक किसी छोटे बालक से भी आप कोई अपशब्द कह दो तो उसे लगता है इन सब बच्चों के सामने मेरा अपमान कर दिया, वह सहन नहीं कर पायेगा। हो सकता है उसी बालक को कमरे में अलग से डाँटो तो उसे उतना बुरा न लगे। बालक को अभी कुछ नहीं बस कुछ Alphabet याद किए हैं, उसे भी यदि दस बच्चों के सामने डाँट दिया उसके दो भाई के सामने डाँट दिया उसे इतना खराब लग गया कि वो रूठ जाता है। यानि इतनी उपलब्धि पर भी इतना अहंकार आ गया। दूसरा बालक जिसे इतना याद नहीं है तो उसे

कहता है तुझे कुछ याद नहीं है तो वह बालक चुपचाप सह लेता है और इसे गुस्सा आ जाता है।

महानुभाव! फिर व्यक्ति को सुन्दर तन प्राप्त हो जाये, धर्म प्राप्त हो जाये, अच्छा कंठ प्राप्त हो जाये, उसे कोई सद्कला प्राप्त हो जाये, उसे यश प्राप्त हो जाये, ऐसा अभ्युदय प्राप्त हो जाये इसके उपरांत भी यदि व्यक्ति सरल–सहज और क्षमाशील बन जाये तो आश्चर्य ही है, ये आश्चर्य असंभव नहीं है। ये भी होते हैं। ऐसे आश्चर्य वाले पुरुष भी होते हैं जिन्हें कहते हैं अतिशयवान्। तीर्थंकर आदि महापुरुषों के अतिशय क्यों कहते हैं? क्योंकि जन्म से ही उनकी प्रवृत्ति आश्चर्य से युक्त होती है इसलिये वे उनके 34 अतिशय कहलाते हैं। तो जितना–जितना अभ्युदय प्राप्त हो उतनी उसके जीवन में विनम्रता सरलता आती जाये।

एक व्यक्ति कहता है जब मेरे पास कुछ नहीं था तब थोड़ी–थोड़ी बातों पर मुझे क्रोध आता था क्षमा नहीं करता था, जब से मुझे अंतरंग में गुणों की प्राप्ति हुयी है तब से क्रोध मुझे ढूँढ़े से मिलता नहीं है। जब मेरे पास कुछ नहीं था तब मैं हाथी की तरह अकड़ कर चलता था, सुकरात ने स्वयं लिखा है जब मेरे पास अल्पज्ञान था तब मैं हाथी के जैसे चलता था, आज मुझे मेरी अज्ञानता का बोध हो गया है मेरी चाल स्वयं ही बदल गयी, अब मैं भींगी बिल्ली जैसा चल रहा हूँ। तो जब व्यक्ति के जीवन में अभ्युदय होता है तो जैसे वृक्ष झुकने लगते हैं ऐसे ही अभ्युदय से युक्त व्यक्ति विनम्र हो जाता है, सहज–सरल हो जाता है और क्षमाशील भी बन जाता है।

बड़े–बड़े राजा–महाराजाओं ने अपराधियों को क्षमा कर दिया, समाज के प्रति अपराध किया तब तो दंड दिया किंतु उनके स्वयं के प्रति व्यक्तिगत अपराध किया तो क्षमा कर दिया। या

जिससे अपराध भूल से हो गया उसे भी क्षमा कर दिया। तो क्षमा करने के लिये अंतरंग में बहुत शक्ति सामर्थ्य चाहिये। जो व्यक्ति अपने शत्रु को चुटकी से मसल सकता है ऐसे शत्रु को क्षमा करने वाला विशेष अभ्युदय वाला ही हो सकता है और जो शत्रु के साथ जूझ करके स्वयं मिटे या सामने वाले को मेट दे वह क्षमा नहीं कर सकता। क्षमा करने वाले को बहुत बड़ा होना चाहिये जिसकी सामर्थ्य इतनी हो कि वह जब चाहे शुत्र को कुचल दे, जब चाहे मसल दे तब भी वह कहता है कोई बात नहीं, क्षमा किया, मैं तेरा अहित नहीं करुँगा, तू अपनी दुष्टता नहीं छोड़ेगा मैं अपनी शिष्टता नहीं छोडूँगा। तो महान पुरुष का ये लक्षण है।

एक बिच्छू नदी किनारे जा रहा था अचानक पानी में गिर गया, एक महात्मा जी नदी किनारे स्नान करने के लिये बैठे थे। उन्होंने बिच्छू को देखा, हाथ में लिया और किनारे पर रख दिया किंतु वह जमीन पर टिक नहीं पाया पुनः गिर गया, महात्मा जी ने फिर हाथ पर लिया तो बिच्छू ने डंक मार दिया और फिर गिर गया, महात्मा ने पुनः उठाया, बिच्छू ने फिर डंक मारा पुनः गिर गया। यह बार–बार हो रहा था। एक व्यक्ति यह दृश्य देख रहा था। वह आया–बोला महात्मा जी आप ये क्या कर रहे हैं ये दुष्ट है बार–बार डंक मार रहा है और आप बार–बार इसे उठा रहे हैं। इसका ये स्वभाव ही है यह नहीं छोड़ेगा डंक मारना। महात्मा जी ने कहा–मैं भी तो ये ही देख रहा हूँ, जब ये बिच्छू होकर के भी अपने डंक मारने के स्वभाव को नहीं छोड़ रहा है तो मैं साधु होकर के इसे बचाने के स्वभाव को कैसे छोड़ दूँ। मैं तो साधु हूँ करुणा–दयावान् हूँ इसे बचाऊँगा ही भले ही कुछ भी हो। आखिर हुआ यही बिच्छू ने दो–चार बार डंक मारा, बाद में महात्मा ने उसे लेकर बचा ही दिया किंतु अपना स्वभाव नहीं छोड़ा।

महानुभाव! यह महान पुरुष का लक्षण है अभ्युदय ज्यों–ज्यों बढ़ता जाये त्यों–त्यों क्षमाशीलता बढ़ती जाये। भारतीय संविधान में यह दिया है कि राष्ट्रपति हर कोई नहीं बन सकता, 21 वर्ष में विधायक बन सकता है किंतु राष्ट्रपति नहीं बन सकता, सांसद बन सकता है पर राष्ट्रपति बनने के लिये उसे अनुभव चाहिये। 25 वर्ष की उम्र में वकील बनकर वकालत कर सकता है पर उसे जज नहीं बनाया जा सकता। वह 35 वर्ष के ऊपर हो या 10 वर्ष तक की वकालत का अनुभव हो। यदि कोई युवा नये खून वाला जज बन गया तो वह प्रतिदिन 2–4 को फाँसी दे देगा, वह बात की गंभीरता को समझ नहीं पायेगा। हमारे गुरुमहाराज कहते हैं संघ में आचार्य भी बनाये जाते हैं अगर नई उम्र का आचार्य बना दोगे तो न तो स्वयं को संभाल पायेगा न संघ को। पुण्य के उद्रेक में या तो स्वयं च्युत हो जायेगा या दूसरों को च्युत कर देगा या संघ में इतना कटु अनुशासन कर देगा कि संघ अनुपालन करके चल ही नहीं पायेगा। आचार्य को अनुभवशील होना चाहिये 48 साल के बाद ही उसमें गंभीरता आती है। ज्ञान पुस्तकों से आता है, शास्त्रों से आता है, संगति से आता है और स्वयं के क्षयोपशम से आता है। किंतु चौथा पाया है ज्ञान का अनुभव वह समय से आता है।

कोई व्यक्ति बचपन में अपने बालों को सफेद कर ले, तो सफेद करने से अनुभव नहीं आ जाता, अनुभव तो तब आता है जब बाल स्वयं पकते हैं। जिसने स्वयं के पुरुषार्थ से प्रतिकूलताओं को सहन करके अभ्युदय प्राप्त किया है। तो ज्यों–ज्यों अभ्युदय आता चला जाता है त्यों–त्यों क्षमाशीलता भी उसके जीवन में आती है। यदि किसी का छीनकर ले लिया है तब उसके जीवन में शायद क्षमाशीलता न आ पायेगी।

आगे कहते हैं–'सदसि वाक्पटुता' आगमयुक्त–समीचीन वाक्य बोलने में जो श्रेष्ठ है वह भी महान्पुरुष की श्रेणी में आता है। महान् पुरुष की विशेषता है कि सहज में ही जो उसके श्री मुख से वचन निकलते हैं वह हित–मित–प्रिय ही निकलते हैं। कटु वचन, असत्य वचन नहीं निकलते, कभी दूसरों के लिये अहितकारी वचन नहीं निकलते। उसकी सहज प्रवृत्ति है। आगे कहा–''युधिविक्रमः'' महान् पुरुष वह है जो सरल–सहज है। चींटी की भी रक्षा करे, किसी भी जीव को कष्ट न दे किंतु फिर भी युद्ध क्षेत्र में उसका पौरुष, पराक्रम जाग जाता है वह कहता है। ये अत्याचार, अन्याय मैं अपनी प्रजा पर सहन नहीं कर सकता हूँ। मानवता का कोई ह्रास करे, संस्कृति का कोई ह्रास करे, कोई अकारण ही जीव हिंसा करे तो मैं सहन नहीं कर सकता। इसकी दुष्टता का पाठ तो मैं पढ़ाऊंगा। तो महापुरुष कायर नहीं होता वह युद्ध क्षेत्र में बड़ा पराक्रमी भी होता है।

आगे कहा–'यशसि चाभिरुचि' महापुरुष वह है जो सदैव यशः कीर्ति के कार्य करे बदनामी के नहीं। जिस कार्य के करने से अपयश होवे उन कार्यों से महान्पुरुष दूर ही रहते हैं। जिन कार्यों के करने से लोक निंदा होती है वे उनसे दूर रहते हैं, अपयश की कालिक से दूर रहते हैं। वे प्रायः ऐसे ही कार्य करते हैं जिससे जग में यश, कीर्ति और लोक में एक प्रेरणा प्राप्त हो। जिस कार्य के करने से वह दूसरों के लिये भी आदर्श स्थापित कर सके वही उसके लिये श्रेष्ठ होता है, यही उनकी सहज प्रकृति है वे उसी प्रकार के कार्य करने का अवसर खोजते रहते हैं। आगे दिया 'व्यसनं श्रुतौ'–शास्त्र स्वाध्याय का उन्हें व्यसन होता है। महापुरुष सदैव अच्छी बातों को ग्रहण करते जाते हैं। राजाओं के दरबारों में भी पुरोहित–विद्वान् रखे जाते थे, वे अच्छे–अच्छे काव्य सुनाते थे, सदुपदेश देते थे और सबके लिये

हितकर बातें बताते थे। ये राजाओं की प्रवृत्ति रही कि अच्छे कार्य करने के लिये उन्होंने सदैव विद्वानों का सम्मान किया। कई राजाओं के बारे में यह श्रुति में आता है कि उन्होंने अपने स्वयं के कक्ष में शास्त्रों को रखा, आज भी कई ऐसे विधायक हैं, सांसद हैं आपको सुनकर आश्चर्य होगा कि उनके स्वयं के कक्ष में धर्म के ग्रंथ रखे हैं समय मिलने पर वे उनका स्वाध्याय करते हैं। जो जिस मत को मानने वाला है उन धर्मग्रंथों को पढ़ता है।

आज ऐसा नहीं है कि ऐसे व्यक्तित्व के धनी नहीं हैं लोग कहते हैं महाराज! आजकल तो सब भ्रष्ट हैं–अरे यह 'भ्रष्ट' शब्द कहना बड़ा सरल है एक बार कह दिया किंतु आज कुछ ऐसे भी हैं जो नित्य जाप लगाते हैं, स्वाध्याय, हवन पूजा–पाठ करते हैं। ऐसे कई राजनैतिक व्यक्ति हैं जिनके घर में आज भी धर्म का प्रभाव है। महानुभाव! समीचीन शास्त्रों में रुचि और समीचीन शास्त्रों का स्वाध्याय करने की आदत जिन पुरुषों में है तो वह महापुरुष कहलाते हैं ''प्रकृति सिद्धमिदं हि महात्मनाम्'' जो महात्मा होते हैं उनके ये छः प्रकृति सिद्ध लक्षण हैं, स्वाभाविक लक्षण हैं इन्हें अलग से कहने की आवश्यकता नहीं।

विपत्ति में धैर्य, अभ्युदय प्राप्त होने पर क्षमाशीलता आगमानुकूल समीचीन वाक्यों का प्रयोग करना, युद्ध क्षेत्र में विक्रम, यश की अभिरुचि और स्वाध्याय करने का व्यसन ये छः महान् पुरुषों के, सज्जन पुरुषों के लक्षण आपके जीवन में भी घटित हों ऐसी हम आपके प्रति मंगल भावना भाते हैं इन्हीं सद्भावनाओं के साथ.....।।

।।श्री शांतिनाथ भगवान् की जय।।
।।जैनं जयतु शासनं–विश्वकल्याणकारकं।।